मूल्य 30 रुपये
जनवरी-फरवरी, 2016 वर्ष 2, अंक 3

देसहरियाणा

ISSN 2454-6879

सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मंच



अंक के रचनाकार

सर छोटू राम, ज्ञान प्रकाश विवेक, स्वयं प्रकाश,
हरभगवान चावला, बजरंग बिहारी तिवारी, सहीराम,
प्रो. टी.आर. कुंडू, कमलानंद झा, अमनदीप वशिष्ठ, कृष्णचन्द 'नादान',
बलबीर सिंह राठी, अमृतलाल मदान, श्रेणिक बिम्बिसार, सुनील 'पागल', विनोद,
शमशेर कैंदल, संगीता बैनीवाल, जसबीर सिंह लाठर्यो, विरेन्द्र सिरोहा, अरुण तिवार, रोशन वर्मा, राधेश्याम भारतीय,
बसाऊ राम, जगदीप, निर्मल, कर्मचंद केसर, महावीर 'दुखी', महावीर शर्मा, विजय विद्यार्थी, बूटा सिंह, सत्यबीर नाहड़िया

ISSN 2454-6879

देसहरियाणा

सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मंच

जनवरी-फरवरी 2016 वर्ष 2 अंक 3

सम्पादक : सुभाष चंद्र

सम्पादन सहयोग : जयपाल, कृष्ण कुमार, अमन वशिष्ठ, निर्मल

सलाहकार : प्रो. टी.आर. कुंडू, अजेय कुमार

व्यवस्था : विपुला, इकबाल

सांस्कृतिक : सुनील, राजीव सान्याल

पता : देस हरियाणा
912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र
(हरियाणा) -136118

मो : 094164-82156

Email : desharyana@gmail.com

ISSN NO 2454 - 6879

चंदे की दरें :

व्यक्तिगत : एक वर्ष 175 रुपए,
तीन वर्ष 500 रुपए

संस्था : एक वर्ष चार सौ रुपए,
तीन वर्ष एक हजार रुपए

आजीवनः पांच हजार रुपए

संरक्षकः दस हजार रुपए

ऑनलाइन भुगतान के लिए
बैंक खाता : देस हरियाणा,
इलाहाबाद बैंक कुरुक्षेत्र,
खाता संख्या : 50297128780

IFS Code: ALLA **0211940**

लेखकों द्वारा उनकी रचनाओं में प्रस्तुत विचार एवं दृष्टिकोण उनके अपने हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं। समस्त कानूनी विवादों का न्याय-क्षेत्र कुरुक्षेत्र न्यायालय होगा। सम्पादन एवं संचालन अव्यवसायिक एवं अवैतनिक। प्रकाशक, मुद्रक और स्वामी सुभाष चन्द्र की ओर से 912, सेक्टर-13 कुरुक्षेत्र, हरियाणा से प्रकाशित।

इस अंक में

आवरण चित्र - हरविन्द्र मलिक **आवरण सज्जा -** प्रेरणा सैनी

रेखाकंन- मनोज छाबड़ा

संपादकीय के बहाने

हरियाणा की पहचान का सवाल

हरियाणा के गठन से ही जब-तब बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ हरियाणा की पहचान ढूंढने की कवायद करते रहे हैं। लेकिन वे सर्वमान्य पहचान को चिह्नित करने में असफल ही रहे हैं। राजनीतिज्ञ अपना राजनीतिक नेतृत्व जमाने के लिए स्थानीयता का खास मुहावरा तलाशता है और अपनी छवि के साथ क्षेत्र-विशेष को जोड़ने की कोशिश करता है। राजनीतिक नेताओं की व्यक्तिगत महत्वकांक्षाएं जब इलाके की पीठ पर सवारी करने लगती हैं तो कहीं बांगर की चौधर का सवाल हो जाता है तो कहीं अहीरवाल का या बागड़ का। हरी, गुलाबी, केसरिया और पीले रंग की अपनी पगड़ियों के रंगों को ही हरियाणा की पहचान बताने लगता है। पर जब ये राजनीतिक पगड़ियां सत्ता के गलियारे में दम तोड़ने लगती हैं तो लोग भी पहचान की पगड़ी को तह करके अपनी कांख में दबा लेते हैं।

जब कोई बुद्धिजीवी हरियाणा की पहचान के सवाल से जूझता है तो वह हरियाणा के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ सामान्य सूत्र ढूंढने के लिए मगजपच्ची करता है और सफलता हाथ नहीं लगती। असफलता का मुख्य कारण हरियाणा की विविधता का जश्न न मनाकर उनके बीच एकता को ढूंढ निकालने पर ही उसका जोर रहता है। एकता पर जोर होने से इसकी विविधता को हरियाणा की ताकत न मानकर कमजोरी ही समझा गया। एकता तलाश हुई भी तो उसके बाहरी स्वरूप में न कि उसके मूल्यों में। हरियाणवीपन आविष्कृत करने के उत्साह में स्थानीय विविधताओं की अनदेखी करना कतई उचित नहीं।

भारत की विविधताओं की तरह ही हरियाणा की संस्कृति में भी विविधताएं हैं, जिन्हें किसी एक निर्धारित सांचे में बिल्कुल फिट नहीं किया जा सकता। कृत्रिम हरियाणवीपन 'इन्वेंट' न करके ब्रज, मेवात, खादर, बांगर, बागड़ और अहीरवाल की विविधताओं के बीच आदान-प्रदान की कड़ियों व प्रक्रियाओं को चिह्नित करने की जरूरत है। हरियाणा की विविध संस्कृतियों पर गंभीर विमर्श की आवश्यकता है, जिनकी समग्रता में ही हरियाणा की पहचान बनती है।

संस्कृति निरंतर परिवर्तनशील व प्रवाहमान है। संस्कृति को स्थैतिक रूप में नहीं बल्कि बदलावों की निरंतरता में ही समझा जा सकता है। संस्कृति कोई बनी-बनाई वस्तु नहीं है, जिसका हमें पालन और रक्षा करनी है, बल्कि वह सतत प्रवाह है, जिसमें हर पीढ़ी अपने अनुभवों को जोड़कर सांस्कृतिक मूल्यों को प्रासंगिक और पुनर्नवा करती है। इस तरह संस्कृति जोहड़ के ठहरे हुए पानी की तरह नहीं, बल्कि बारहमासी नदी की तरह है, जिसमें विभिन्न स्तरों पर समानान्तर रूप से अनेक प्रक्रियाएं घटित होती रहती हैं।

हरियाणवी संस्कृति के विमर्श में संस्कृति के बाह्य रूप यानी पुरानी वस्तुओं, ढांचों और रीति-रिवाजों को ही संस्कृति के पर्याय के तौर पर प्रस्तुत किया। कभी-कभी धर्म को ही संस्कृति का पर्याय मान लिया गया। मानो कि धार्मिक कर्मकांडों का निर्वाह करना ही सांस्कृतिक कर्म हो।

जीवन-मूल्यों के निर्माण-विघटन की प्रक्रियाओं और उनके सामाजिक आधार के विश्लेषण की सांस्कृतिक-विमर्श में केन्द्रीय जगह नहीं बनी, जबकि संस्कृति तो मूल्यों में ही निहित होती है। हरियाणा के सांस्कृतिक-विमर्श में संस्कृति के दस्तावेजीकरण पर बहुत जोर दिया गया। यद्यपि संस्थागत तौर पर विशेष काम नहीं हुआ, लेकिन व्यक्तिगत तौर पर इस दिशा में कुछ प्रशंसनीय काम जरूर किए गए हैं, परन्तु इसमें एक अतीतमोह की भावना थी। संस्कृति के नाम पर पुरातन को इस भाव से प्रस्तुत किया गया कि यह वर्तमान से बेहतर था और इसे पुनर्स्थापित करना है। सही है कि किसी समाज के वर्तमान को समझने के लिए उसके अतीत को जानना जरूरी है, लेकिन उसको दोबारा कभी जिया नहीं जाता। भवनों-स्थापत्य आदि को संजोना निहायत जरूरी है, लेकिन अब उसकी नकल करके वैसा ही करना हास्यास्पद होगा। इतिहास का दोहराव पैरोडी बन जाता है। आज कोई शासक मुकुट पहनकर,

तलवार लगाकर घोड़े पर चढ़कर आये या हाथी पर अपनी शोभायात्रा निकाले तो कितना हास्यास्पद व मनोरंजक दृश्य होगा। देवताओं सा रूप बनाकर बाजार में घूमने वाले बहुरूपियों के प्रति कभी श्रद्धाभाव जागृत नहीं होता, कोई उनमें देवताओं का रूप नहीं देखता। वर्तमान कभी भी अतीत को उसके मूल रूप में धारण नहीं करता, बल्कि मूल्य के रूप में वह वर्तमान का हिस्सा होता है।

हरियाणा के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में शास्त्रोक्त आचार-संहिताओं की बजाय लोक का ही प्राधान्य है। शास्त्रीयता जहां एक विशेष पद्धति व अनुशासन की अपेक्षा करता है, लोक में खुलापन व खुरदरापन होता है। अपने संकटकाल में लोक शास्त्र की बजाए जीवन की व्यावहारिकता से ही निर्णय करता है, इस मायने में हरियाणवी संस्कृति 'शास्त्र' की बजाय 'लोक' से संचालित है।

यहां के देवी-देवता व पूजा पद्धतियां भी लोक की हैं। गांव के स्तर पर बाहरली माता, बूढ़ी माता, अलखदाता और खेड़ा आदि देवता के तौर पर प्रतिष्ठित हैं। इन देवताओं का कोई सार्वभौमिक स्वरूप नहीं है, कोई विशेष आकार नहीं है। पूजा की भी विशेष पद्धति नहीं है। कुछ खील-पतासे, कच्चे अनाज के दाने, मीठे चावल आदि सामान लिया, हाथ जोड़कर जय हो का उच्चारण कर दिया। प्रार्थना इतनी सी कि निराकार देवता से दूध-पूत में वृद्धि मांग ली और हो गई पूजा संपन्न। कोई आरती नहीं, कोई मंत्र नहीं किसी पुजारी की जरूरत नहीं। न कोई भव्यता, न ताम-झाम। एकदम सहज। जाहर वीर गोगा पीर में यहां के लोगों की गहरी आस्था है। वह भी लोक का ही देवता है किसी शास्त्र का पात्र नहीं है, बल्कि लोक ने ही उसकी रचना की है। आज भी गोगा पीर की छड़ी पूरे प्रदेश में घूमती है। पौराणिक कथाएं जीवन से गायब तो नहीं हैं, लेकिन मुख्यतः लोककथाएं, लोकगाथाओं में ही हरियाणवी मानस रस लेता रहा है।

हरियाणा समाज रूढ़िवादी समाज नहीं रहा। यहां की परम्पराओं और लोकजीवन में बौद्ध धर्म, सूफी-परम्परा, संत-परम्परा और आधुनिक समाज के अपेक्षाकृत प्रगतिशील मत आर्यसमाज का प्रभाव रहा है। शास्त्रीय परम्परा के संवाहक यहां के पण्डित भी उनके यजमानों जैसे ही हैं। कोई विशेष अंतर नहीं रहा है। धार्मिक संकीर्णता-कट्टरता व संस्थागत-कर्मकाण्डी धर्म की बजाए लगातार धर्म की मानवीय शिक्षाएं व सहज पहलू ही यहां के जीवन का अंग रहे हैं।

पिछले कुछ समय में हरियाणा के गांवो-शहरों में लोक देवताओं की जगह बड़े-बड़े शिवाले-गुरुद्वारे आदि बने हैं, डेरे भी बने हैं और उनके अनुयायी भी बढ़े हैं, कांवड लेकर आने वालों की संख्या भी बढ़ी है, लेकिन आध्यात्मिकता, सहनशीलता, संयम, सच्चाई, ईमानदारी आदि मूल्यों का ह्रास हुआ है। यह जांच-पड़ताल का विषय है कि कर्मकांडी संस्थागत धर्म और आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति में क्या संबंध है। उपभोक्तावाद-बाजारवाद की टीम-टाम बढ़ी और बाजार घरों में समाने लगा तो सहज धार्मिक जीवन में भी बाजार अपनी पैठ बनाने लगा। सत्यनारायण की कथाओं और देवी की कढाईयों के स्थान पर भव्य व महंगे जगरातों का नया अध्याय शुरू हो गया। फिल्मी गीतों की धुनों के साथ मिलकर धार्मिक-आध्यात्मिक भावना की पूर्ति विकृत रूप में हो रही है। कथा वाचन व आयोजन ने व्यवसाय का रूप धारण कर लिया। कितनी ही संस्थाएं व कथावाचक धन लेकर कथाएं करने के कारोबार में हैं और कथाओं के लिए कितना चंदा एकत्रित किया जाता है। स्वाभाविक है कि जहां बाजार की पैठ होती है, वहां विकृति आती है।

असल में बाजारवाद-उपभोक्तावाद मनुष्य को सांस्कृतिक तौर पर खोखला करता है और अपनी जगह बनाता है। मनुष्य एक सांस्कृतिक प्राणी है, संस्कृति उसकी मूलभूत जरूरत है। बाजार उसकी इस जरूरत को अपनी शर्तों पर पूरी करता है। जीवन से जो चीजें गायब हो रही हैं बाजार उनको कृत्रिम ढंग से पूरा करने की कोशिश करता है। मसलन मां-बापू से कोई ताल्लुक नहीं है, लेकिन कथित धार्मिक मां-बापू की सेवा में हर सप्ताह हाजिर हैं।

संस्कृति का काम-धंधों व प्राकृतिक वातावरण के साथ गहरा संबंध है। इनके बीच में ही वह बनती है। काम-धंधों के स्वरूप में बदलाव आता है तो संस्कृति के रूप व उसके मूल्यों में भी बदलाव निश्चित है। हरियाणा का समाज कृषक समाज है और इसकी संस्कृति किसानी संस्कृति है। किसानी जीवन का संबंध कड़ी मेहनत से है। मेहनती समाज में ईमानदारी, खुद्दारी, और साहस स्वतः ही पनपते हैं। जो समाज व व्यक्ति मेहनत से दूर होता जाता है उसमें विशेष किस्म की विकृति पैदा होने लगती है। बिना मेहनत किए प्राप्त करने की इच्छा से पाखण्डपूर्ण व अमानवीय जीवन का निर्माण होता है।

हरियाणा से कृषि संस्कृति समाप्त हो रही है और उसकी जगह बाजारवाद-उपभोक्तावाद स्थापित हो रहा है, तो चालाकियां, चालबाजियां, बेईमानियां और मुफ्तखोरी जीवन में घर करते जा रहे हैं। जो समाज पारदर्शी था वह औपचारिकताओं व दिखावों से भरता जा रहा है। विवाह-शादियों हो, रस्म-पगड़ियां हों या धार्मिक कार्यक्रम दिखावे पर बहुत जोर है।

हरियाणा में हरित क्रांति की सफलता ने देश-दुनिया का ध्यान अपनी ओर खींचा था, यहां की खेती को माडल माना जाता था। अब इसके दुष्प्रभावों को लेकर चर्चा शुरु हो गई है। पिछले कुछ वर्षों से दलित-उत्पीड़न के जघन्य-कांडों तथा इज्जत के नाम पर

युवक-युवतियों की हत्याओं के कारण हरियाणा चर्चा में रहा है। विश्व स्तर पर खेलों में उपलब्धियों के कारण भी कुछ चर्चा हरियाणा की होती है। पॉपुलर मीडिया भी हरियाणा की बोली को अपने व्यावसायिक हितों के लिए प्रयोग कर रहा है। बालीवुड के चोटी के अभिनेता यहां की पृष्ठभूमि पर फिल्में बना रहे हैं। लेकिन हरियाणा के समाज व संस्कृति के आन्तरिक अन्तर्विरोधों पर गंभीर मंथन अभी शेष है। देस हरियाणा पत्रिका इस बहस को चलाना चाहती है, इस बहस में आपसे सक्रिय हिस्सेदारी की उम्मीद है।

हरियाणा चाहे ऊपरी तौर पर आधुनिक दिखाई दे रहा है। एकदम आधुनिक फैशन व ब्रांड के कपड़े, यातायात के आधुनिक साधन हैं, अत्याधुनिक गैजेटस हैं। आधुनिक समाज की समस्त सुविधाएं यहां मौजूद हैं, लेकिन आधुनिक समाज की सोच, मूल्य व तौर-तरीके यहां दिखाई नहीं देते। महिलाओं व समाज के कमजोर वर्गों-वंचितों के प्रति नजरिया व व्यवहार कतई आधुनिक नहीं हुआ। अक्षर और पुस्तक की उपस्थिति आम आदमी के जीवन में आधुनिक समाज में ही संभव हुई है। लेकिन हरियाणा के सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन में इनकी उपस्थिति बहुत कम है। शायद ही कोई घर होगा, जिसमें कि पुस्तकों के लिए अलग से कोई स्थान बनाया गया है। शहरों में साहित्य के लिए कोई दुकानें नहीं हैं। विचार-विमर्श के केंद्र नहीं हैं। मध्यवर्ग के अधिकांश लोगों से यही बात सुनने में आई कि उनके पास समय नहीं है, लेकिन वे किस कर्म में व्यस्त हैं। इस पर भी उनके पास बताने के लिए कुछ नहीं है।

'देस हरियाणा' पत्रिका का यही प्रयास है कि हरियाणा के समाज में पठन-पाठन की संस्कृति विकसित हो। लोग अपनी समस्याओं व जीवन की बेहतरी में आ रही बाधाओं पर तार्किक ढंग से विचार-विमर्श करें। उनके सामूहिक समाधान की ओर बढ़ें। लोकतंत्र में जनता ही सर्वोपरि होती है, इसलिए उसका सचेत होना ही लोकतंत्र के विकास की गारंटी है। समाज के लोकतांत्रिकरण की प्रक्रिया से ही सबके प्रति सम्मान व बराबरी का भाव पैदा होगा।

अपील

पत्रिका सामूहिक उपक्रम है। अपने आस-पास पत्रिका के पांच पाठक बनाएं। इस अवस्था में हम रजिस्टर्ड डाक से पत्रिका भेज सकते हैं। इससे पत्रिका का मिलना सुनिश्चित होगा। पाठकों का समूह बनेगा जो आपस में बात कर सकता है। इसी से ही वास्तव में माहौल बनता है। साथी इस काम को जरूर करें। यही एक रास्ता है हरियाणा में बदलाव का और उसका उत्सव मनाने का।

इस अंक में

हरियाणा के वरिष्ठ, युवा व नवोदित लेखकों का साहित्य कहानियां, कविताएं, गजलें, लघुकथाएं, रागनियां हैं। हरभगवान चावला की 'किश्तियाँ' कहानी हरियाणा की गंभीर समस्या को पूरी विश्वसनीयता व जटलिताओं को समाहित किए हुए है। ज्ञान प्रकाश विवेक की 'फासला' कहानी इस सत्य को स्थापित करती है कि सामाजिक-संबंधों का आधार श्रम-संबंध होते हैं। यदि ये सूत्र बीच से गायब हो तो सामाजिक-संबंध भी बिखर जायेंगें। सुनील 'पागल' युवा कवि हैं। उनकी कविताएं जीवन-संघर्ष में भरोसा जगाती हैं। हरियाणा की विरासत में रहबरे-आजम दीनबंधु सर छोटूराम महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं, जिन्होंने किसान एकता के जरिये हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काम किया। उनका 'भारत में मजहब' लेख दे रहे हैं। मुंबईया फिल्मों में हरियाणा की छवि का विश्लेषण करता सही राम का विशेष लेख तथा 'दशरथ मांझी द माऊंटेन मैन' पर कमलानंद झा का महत्वपूर्ण आलेख है। उस्ताद धूलिया खान सारंगी वादक थे। उन्होंने प्रसिद्ध सांगी लखमीचंद के साथ काम किया था। रोशन वर्मा का लेख उनके व्यक्तित्व से परिचित करवाता है। पश्चिम ने भारत को कैसे समझा विषय पर अमनदीप वसिष्ठ का महत्वपूर्ण आलेख 'ज्ञान-पश्चिम-औपनिवेशिकता' दे रहे हैं। बजरंग बिहारी तिवारी का आलेख 'दलित प्रेम का आशय' गुरू रविदास के के अनछुए पहलुओं को उजागर करके दलित-विमर्श का आधार विस्तृत करता है। स्वयं प्रकाश का आलेख 'उसी को देखकर जीते हैं जिस काफिर पे दम निकले' विश्व साहित्य के बेहतरीन उपन्यासों से परिचित करवाता है। अरुण तिवारी का 'पंचायती राजःअस्तित्व में आने की कहानी' लेख इस अर्थ में प्रासंगिक है कि हरियाणा में पंचायत चुनाव हो रहे हैं। हरियाणा ने इसमें जो नई अयोग्यताएं जोड़ी हैं उन पर खूब बहस चल रही है। जहां एक पक्ष इसे पंचायतों के आधुनिकीकरण व शिक्षा की महत्ता को उजागर करने के कदम के रूप में देख रहा है, वहीं दूसरा पक्ष इसे बहुत बड़ी आबादी के लोकतांत्रिक अधिकारों के हनन के रूप में देखता है। प्रो. टी.आर. कुंडू का आलेख 'हरियाणा का आर्थिक विकास और सांस्कृतिक पिछड़ापन' हरियाणा की संस्कृति के सामाजिक आधार तथा आर्थिक विकास के अन्तर्विरोधों को समझने के सूत्र देता है। इस बार 'देसा' छुट्टियां मना रहा है, और वहां दूसरे प्रांतों की लोककथाएं हैं। हरियाणा की अभिव्यक्ति का खास मुहावरा रागनी, लोकगीत, कविताओं में हैं। अंक आपके हाथ में है। आपके सुझाव पत्रिका को समृद्ध करेंगे।

सुभाष चन्द्र

कहानी

किश्तियाँ

हरभगवान चावला

'भूमिहीन खेतिहर मज़दूर के लिए कुँवारी, परित्यक्ता, विधवा कैसी भी वधू चाहिए। शादी एकदम सादी, शादी का सारा ख़र्च वर पक्ष की ओर से होगा। अगर ज़रूरत हुई तो वधू के माता-पिता को उचित मुआवज़ा भी दिया जाएगा।' विवाह का ऐसा विज्ञापन किसी अख़बार में नहीं छपता पर पंजाब के मालवा क्षेत्र तथा साथ लगते हरियाणा के अधिकांश हिस्से के ग्रामीणों के दिलों पर हमेशा छपा रहता है। यह विज्ञापन 'नवीन विवाह संहिता' का घोषणापत्र है। विवाह के परम्परागत विज्ञापनों की शोभा बनने वाले ज़रूरी शब्द-सुंदर, सुशील, कुलीन आदि इस संहिता का हिस्सा नहीं हैं। इन इलाक़ों में अविवाहित युवाओं, अधेड़ों, बूढ़ों की पूरी फ़ौज है। इस फ़ौज का कोई सिपाही जब विवाह का कोई जुगाड़ कर लेता है तो फ़ौज कहती है-अज ओ वी 'बेड़ी' चढ़ गया यानी किश्ती पर सवार हो गया। पूरी फ़ौज तब तीन मानसिक दशाओं से गुज़रती है; पहली, बेवफ़ाई का अहसास जिसका सूत्र वाक्य होता है - साला छड गया बेलियाँ नूँ। दूसरी, आशा-चलो भई वो बेड़ी चढ़ गया, कभी अपणा भी नंबर लगेगा। तीसरी ईर्ष्या-हमारी शकल उससे तो चंगी है, उसनूँ जनानी मिलगी, असीं रहगे, रब्बा तू वी कुछ नहीं।

छड़ों की इस फ़ौज का हर आदमी थके हुए कछुए जैसा लगता है- तलहीन, अंतहीन, खारे-अंधियारे समंदर में निरुद्देश्य तैरता-शिथिल पर बेसब्र किसी ऐसी लहर के इंतज़ार में जिस पर सवार हो वह सीधे समुद्र-तट की रेत पर जा पहुँचे और धूप सेंकते हुए सुस्ताने का मज़ा ले या फिर किसी नाव के इंतज़ार में जिस पर वह उचक कर चढ़े और इस भयावह समुद्र से बाहर आ जाए।

कछुओं की इस फ़ौज को कोई किश्ती उपलब्ध कराने के लिए अब कई गिरोह इलाक़े में सक्रिय थे। अब दलाल बाक़ायदा फ़ीस लेकर छड़ों का कल्याण करते थे। फ़ीस कोई ज़्यादा नहीं थी, मात्र एक तोले सोने की अँगूठी या कड़ा। जैसे ही दलाल दुल्हन का प्रबंध करता, भावी दूल्हा बिना कोई मुहूर्त निकलवाए दलाल समेत पाँच-छः लोगों को जीप में लाद ब्याह रचाने निकल पड़ता। सेहरा रास्ते में ही ख़रीद लिया जाता। सड़क किनारे स्थित चाय की छोटी-बड़ी सब दुकानों में चाय-नाश्ते के सामान के साथ अब सेहरे भी बिकते थे।

मग्घर(अग्रहायण) आधा बीत चुका था। हल्की ठंड पड़नी शुरू हो गई थी। रात के लगभग नौ बजे थे। अँधेरी रात थी, तीन कमरों के एक कच्चे मकान के आँगन में एक पीला बल्ब जल रहा था पर आँगन के पूरे विस्तार में फैलकर उसकी रोशनी जैसे हाँफ रही थी। आँगन के दो कोनों में दो बड़े चूल्हे जल रहे थे। एक चूल्हे पर पतीला चढ़ा था जिसमें मांस पक रहा था। इस चूल्हे में कीकर की एक मोटी लकड़ी प्राणपण से जल रही थी। इस चूल्हे के पास तीसेक साल का एक दाढ़ी वाला साँवला लड़का बैठा था। उसके सिर पर साफ़ा बँधा था, उस साफ़े के लड़ से वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद चेहरा पोंछ लेता था जबकि उसके चेहरे पर पसीना नज़र नहीं आता था। हर दो-चार मिनट में उसे खदबदाहट सुनाई पड़ती। वह चौंक पड़ता जैसे समझ नहीं पा रहा हो कि यह आवाज़ उसके भीतर से आ रही है या मीट के पतीले के भीतर से। वह कड़छुल से मीट का कोई टुकड़ा पतीले में से निकालता, उसे हाथ से दबाकर देखता और वापस पतीले में डाल देता। यह लड़का बल्ली था जो आज दोपहर तक छड़ों की फ़ौज का एक सिपाही था। वह आज ही 'बेड़ी' चढ़ा था और उसकी दुल्हन घर के अंदर एक कमरे में उसका इंतज़ार कर रही थी। माँ दो बार आकर आँगन में झाँक गई थी। बल्ली समझ रहा था पर अपने यारों-दोस्तों को दी जा रही 'पाल्टी' बीच में छोड़कर दुल्हन के पास जाना उसकी शान के खिलाफ़ था, लिहाज़ा वह उन दस-बारह लोगों के साथ बैठा मीट पकाते हुए दारु पी रहा था। आँगन के दूसरे कोने वाले चूल्हे पर बड़ी तवी रखी थी। चूल्हे के पास दो माइयाँ बैठी लगभग ऊँघ रही थीं। अभी उन्हें रोटी बनाने का आदेश नहीं मिला था। आग जलाए रखने के लिए वे एकाध बनछटी चूल्हे में सरकातीं और फिर ऊँघने लगतीं।

आख़िर दारु का दौर ख़त्म हुआ।शराबी यार रोटी और मीट पर टूट पड़े। रोटी खाकर सबने बल्ली को लड़खड़ाती बधाई दी। दरवाज़े से बाहर होते-होते मिट्ठू ने बल्ली के कंधे पर हाथ रखा और सबको सुनाकर बोला,''सुणो ओए यारो ! बेड़ियाँ ते सवार लोक मछलियाँ नूँ याद नहीं रखदे, हुण आपणाँ बल्ली वी आपाँ नूँ याद नहीं रखेगा।'' सब यारों का ठहाका गूँजा पर ऐसा लगा जैसे एक सामूहिक रुदन घर के आँगन से बाहर गली तक फैल गया हो।

बारह बज रहे होंगे जब बल्ली कोठे के दरवाज़े पर पहुँचा। उसने दरवाज़े को ठेला पर दरवाज़ा नहीं खुला। दरवाज़ा अंदर से बंद है - उसने अनुमान लगाया। पर क्यों ? लगता है

नाराज़ हो गई। वह मुस्कुराया और हौले से दरवाज़ा खटखटा दिया, नहीं खुला तो ज़रा ज़ोर से दोबारा खटखटाया। अब की बार दरवाज़ा खुला और तेज़ी से एक साया अपनी तहमद सँभालता उसकी बगल से चौखट लाँघ गया। बल्ली जैसे जड़ होकर कुछ देर तक संभ्रम का शिकार बना खड़ा रहा। बेशक अँधेरा था पर वह उस साये को कैसे नहीं पहचान पाता ? बत्ती जलाई, दुल्हन की हालत देखी, चारपाई पर बैठकर माथा ठोंकते हुए लगभग चीख ही पड़ा,''सगा भाई ही साला कंजर बण गया।' उधर उसे देखा तो दुल्हन हड़बड़ी में अपने कपड़े सँभालती चीख पड़ी,''निकलो यहाँ से निकलो मेरे कमरे में कैसे घुस आए हो'' उसको अनसुना करते हुए तत्क्षण तेज़ी से वह आँगन की तरफ़ भागा पर साया घर के बाहर जा चुका था। मन हुआ, कुल्हाड़ी उठाए और भाई के घर जाकर उसके टुकड़े कर दे पर जल्द ही उसे अपना यह विचार बेवकूफ़ाना लगने लगा। एक मोल की औरत के लिए वह यह सब क्यों करे पता नहीं मुझसे पहले इसके कितने खसम रहे हों एक खसम और सही। वह सामान्य होने की कोशिश करने लगा। उसने आँगन के घड़े से एक गिलास पानी पिया और लौटकर कमरे में आ गया। दुल्हन ने उसे फिर से वहाँ देखा तो चीखने लगी, ''चोर चोर, बचाओ'' बौखलाए बल्ली ने अपने हाथों से उसका मुँह दबा दिया और फुसफुसाते हुए बोला, ''सालिए मैं तेरा घरवाला, अज ही तो अपणा ब्याह होया है।'' दुल्हन अपने मुँह को आज़ाद करवाने की कोशिश में घों-घों करते हुए कुछ कहने की चेष्टा कर रही थी। बल्ली ने पकड़ थोड़ी ढीली की , एक बार फिर फुसफुसाया,''मैं तेरा घरवाला''

''तू मेरा घरवाला नहीं है, वो तो अभी दरवाज़े से बाहर गया था।'' गहरी साँस लेती दुल्हन का चेहरा सुर्ख़ हो गया था।

''ओए वो तेरा घरवाला नहीं, मैं हूँ मैं, पछाण ले मेरे को।'' बल्ली ने उसका हाथ पकड़ा तो दुल्हन ने हंगामा खड़ा कर दिया। 'बचाओ बचाओ' की दुहाई इतनी मार्मिक और बुलंद थी कि बल्ली को लगा सारा मोहल्ला जाग जाएगा। उसने दुल्हन के मुँह पर हाथ रखा और फिर उसके आगे हाथ जोड़ गिड़गिड़ाते हुए चुप हो जाने की प्रार्थना करने लगा,''तू चुप हो जा, मैं बाहर जा रया हाँ तू बूहा बंद कर लै।'' उसके दरवाज़े की तरफ़ बढ़ते क़दमों ने दुल्हन की दुहाई को धीमा किया। उसके बाहर आते ही दरवाज़ा भड़ाक से बंद हुआ। दुल्हन के मुख से कोई गाली जैसा ग़ुस्सैल कर्कश श ाब्द निकल कर उसके मुँह पर तमाचे की तरह पड़ा। वह तिलमिला गया, मन हुआ, तुरंत दरवाज़ा तोड़कर भीतर घुसे और 'पूरबण' को सबक सिखा दे साली बनती है पतिव्रता पर उसकी बचाओ-बचाओ की दुहाई, हंगामा, मोहल्ले भर के जाग जाने की कल्पना ने उसे ख़ौफ़ से भर दिया। वह दूसरे कमरे में सोने चला गया पर सो नहीं पाया। उसकी दुल्हन उसके बग़ल वाले कमरे में थी। आज ही उसका ब्याह हुआ था और वह यहाँ सोया था एक झिलंगी खाट पर करवटें बदलता, खौलता सुलगता छटपटाता। कभी उसे भाई पर गुस्सा आता और वह उसे गंदी-गंदी गालियाँ देने लगता, कभी खुद पर गुस्सा आता क्यों बैठा रहा यारों के साथ आध ी रात तक दारु पीता हुआ। उसने उसी वक़्त दारु छोड़ने का निर्णय किया। मन ही मन माँ की क़सम खाई। सारी रात उसे लगता रहा कि बाहर आँगन में प्यास का प्रेत डोल रहा है- पानी की तलाश में बेचैन, व्यग्र, गर्म लू जैसी साँसें छोड़ता।

अगली सुबह गाँव के लोगों ने मोल ली हुई उस दुल्हन का अजीब रूप देखा। उसकी ज़िद थी कि वह अब अपनी ज़िंदगी उसी के साथ काटेगी जिसको उसने अपना पति मानकर देह अर्पित की है। वह किसी भी सूरत में बल्ली के साथ नहीं रहेगी और न ही कहीं जाएगी। पंचायत से उसने माँग की कि उस आदमी को बुलाया जाए जो रात को उसके साथ था वरना वह पुलिस के पास जाएगी। वह मरती मर सकती थी पर अपने धर्म से डिगने को तैयार नहीं थी। आख़िर बल्ली के भाई जसकरण को उसे अपनाना ही पड़ा। आज भी वह उसकी दूसरी औरत बनकर उसके घर रह रही है।

साल भर बाद बल्ली फिर से बेड़ी चढ़ा। लड़की सजातीय थी, नाम था राणो। बल्ली को दुल्हन के बदले उसके माँ-बाप को कोई मुआवज़ा नहीं देना पड़ा बल्कि दहेज में उसे डबल-बैड, टेलीविज़न और कुछ बर्तन मिले। हाँ, दलाल को एक तोला सोने की चेन पहले की भाँति ही देनी पड़ी। दुल्हन सुंदर थी - गोरा रंग, बड़ी-बड़ी बोलती आँखें, लंबे घुंघराले बाल। कमी थी तो बस एक कि वह चल-फिर नहीं सकती थी। बचपन में रेलगाड़ी की चपेट में आने से उसकी दोनों टाँगें घुटनों के पास से कट गई थीं। वह खाट पर बैठी टेलीविज़न देखती या हुक्म चलाती रहती। कभी उसे अंदर या बाहर लाना, ले जाना होता तो बल्ली उसे उठा कर एक जगह से दूसरी जगह रख देता। नहाने-धोने या कपड़े आदि पहनने का काम वह घिसटती-पिसटती स्वयं कर लेती पर उसकी आत्मनिर्भरता यहीं तक सीमित थी, किसी और काम के लिए उसने कभी प्रयास ही नहीं किया। वह चाहती तो चूल्हे के पास बैठकर रोटी बना सकती थी, बैठे-बिठाए किए जा सकने वाले कई काम निपटा सकती थी, गंभीर कोशिश करती तो लाठी, बैसाखी आदि की मदद से चल भी सकती थी पर उसने बचपन से ही आत्मनिर्भर होने की दिशा में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। माँ-बाप के अनुसार वह घर-भर की किश्ती 'लाडली' थी न ! उसकी सारी ज़रूरतें खाट पर पूरी होती रहीं। राणो चटोरी थी। खाट पर बैठी सास को हुक्म देती,''माता अज हलवा खाणा है-अज पूड़ियाँ बणा लै-अज खीर खाण दा जी करदै'' आदि। सास भरसक उसकी फ़रमाइशें पूरी

करती पर बल्ली से माँ की आँखों की बेबसी छुप नहीं पाती। वह सोचता, उसकी खुशी के लिए माँ राणो की गुलाम बनकर रह गई है। वह राणो को समझाने का प्रयास करता कि कुछ काम वह भी कर लिया करे पर उसका जवाब होता,''मैथों नहीं हुंदा, मैं की कराँ।'' 'मैं की कराँ' उसका तकिया कलाम था। कुछ भी कहो, जवाब होता-मैं की कराँ। बल्ली कभी उसे डाँट देता तो वह रोने लगती, फिर माँ-बेटे की आधी दिहाड़ी उसे चुप कराने और मनाने में गुज़र जाती।

दोस्त कहते थे कि बल्ली आधी-अधूरी, टूटी-फूटी 'बेड़ी' पर सवार हुआ है, पार नहीं उतरेगा। अब उसे महसूस होने लगा था कि वह सचमुच ऐसी ही बेड़ी पर सवार होकर गोते खा रहा है। शादी को दो महीने होने को आए थे और अचानक राणो को उसके मुँह से ज़र्दे की बदबू आनी श ुरू हो गई थी। वह बदबू का बहाना लेकर अक्सर उसे अपने से परे ठेल देती। बल्ली बिस्तर पर आने से पहले बीसियों बार कुल्ले करके मुँह साफ़ करता पर पता नहीं बदबू कौन से रंध्रों में से निकलकर राणो की नाक में पहुँच जाती। बल्ली झल्लाता तो वह रोने लगती। कभी अपने पर क़ाबू नहीं रख पाता तो सारी रात राणो की गालियाँ और रुदन सुनता। बल्ली ने ज़र्दा खाना छोड़ दिया पर राणो को उससे अब भी बदबू आती। वह समझ गया कि राणो जान बूझकर उसकी उपेक्षा करती है, शायद वह उसे पसंद नहीं है। एक रात उसने पूछा,''मैं तैनूँ चंगा नहीं लगदा?'' राणो चुप रही।

''बोल, बोलदी क्यों नहीं?''

वह फिर चुप बनी रही।

''ओए कुझ ता बोल, मुँह विच जबान है कि नहीं ?''

''मेरा व्याह होया है तुहाडे नाल, मैं की कराँ।''

''मैं तैनूँ चंगा नहीं लगदा ताँ व्याह क्यों कीता ?''

''माँ-प्यो ने कर दित्ता, मैं की कराँ।

बल्ली उससे और कुछ नहीं कह पाया। तो राणो उससे नफ़रत करती है माँ उसके कितने नखरे सहती है, फिर भी उसने एक लंबी साँस ली और करवट बदलकर चेहरा खिड़की की तरफ़ कर लिया। इस नफ़रत के साथ वह कितने दिन उसके साथ रह सकेगा पर अगर यह भी छूट गई तो सारी उम्र छड़ा ही रहना होगा, तो फिर वह क्या करे-वह सोचता रहा और सोचते-सोचते उसे नींद आ गई। नींद में उसने देखा-ज़ोरों से बारिश हो रही है, बारिश में सारे कच्चे मकान धराशायी हो गए हैं, मलबे में से दबे हुए लोगों की चीखें आसमान का सीना चीरे दे रही हैं उसके मुँह से भी चीखें निकल रही थीं। राणो उसे झिंझोड़ते हुए पूछ रही थी, ''की होया?''

''कुझ नहीं कुझ नहीं तू सो जा।'' उसकी देह हौले-हौले काँप रही थी। राणो उसके माथे को सहला रही थी। उसने राणो का हाथ थाम उसे अपने ऊपर खींच लिया। वह उसके सीने से चिपकी रही। बल्ली के हाथ उसकी पीठ की यात्रा करते रहे।

महीना भर और बीता। अब राणो रोती नहीं थी, उसका विरोध भी नहीं करती थी पर कभी-कभी ऐसी हरकतें करती कि बल्ली को लगता वह उसे चिढ़ाना चाहती है। वह खेत से लौटता तो नींद का नाटक कर खर्राटे भरने लगती। कभी खेत जाने को तैयार होता तो ज़ोर से उसे सुनाकर सास से कहती,''अज मालपुड़े बणा लईं माता।'' बल्ली बिस्तर पर होता तो वसनविहीन हो छत ताकने लगती, न उसका विरोध करती, न किसी बात का जवाब देती। बल्ली को लगता उसकी बाँहों में कोइ शव है। वह राणो को समझ पाने में स्वयं को अक्षम पाता। एक दिन वह खेत से लौटा तो राणो ने अपनी बाँयी बाँह उसके सामने कर दी। उस पर पेन से कुछ लिखा था। वह घुग्घु बना उसे देखता रहा। राणो बोली,''पढ़ की लिख्या है ?'' अनपढ़ बल्ली क्या पढ़े ? बाँह ताकता बस बैठा रहा।



''पढ़, बुत्त क्यों बण्या बैठा हैं ?''

''तू दस दे, की लिख्या है ?''

''है किसे दा नाँ।'' उस इबारत पर हाथ फिराती हुई राणो की आँखें मुंद गईं।

फिर तो राणो का रोज़ का यह खेल हो गया। वह बल्ली से इबारत पढ़ने को कहती, इबारत पर हाथ फेरती आँखें मूँद लेती। आँखें खोलती तो बल्ली को उन आँखों में अपने लिए अथाह उपेक्षा और अपरिचय नज़र आता। एक दिन खेत से लौटते हुए बल्ली छठी कक्षा में पढ़ रही अपनी भांजी को अपने साथ लेता आया। आते ही उसने राणो की बाँह पकड़कर भांजी के सामने कर दी,''की लिख्या है पुत्तर, पढ़ के दिखा, देखां पढ़ाई विच किनीकू हशियार

हैं ?'' भांजी संदीप कौर अक्षर-अक्षर जोड़ पढ़ने लगी-'बीजा, मैं तैनूँ याद करनी हाँ।'

''ए बीजा कौण है ?'' बल्ली ने गुस्से में पूछा। राणो न झिझकी, न घबराई, सपाट स्वर में उत्तर दिया,''बाणियाँ दा मुंडा है।''

''कित्थे रहंदा है ?''

''साडे घर दे कोल। रोज जलेबियाँ लैके साडे घर आँदा सी।''

''ओ जलेबियाँ तैनूँ आपदे हत्थ नाल खुवांदा वी होणै ?'' बल्ली की ज़बान कटार हो गई थी।

''हाँ, खुवांदा वी सी।''

''व्याह क्यों नी कीता ओहदे नाल ?''

राणो हँसी, इतनी ज़ोर से हँसी कि आँसू निकल आए,''व्याह कीवें हो जांदा, ओ बाणियाँ सी। मेरियाँ टंगाँ वी ता नहीं सण। ओ मेरे नाल क्यों व्याह करदा ? एनी वी गल नहीं समझ सकदा।'' वह फिर से हँसने लगी। बल्ली तेज़ी से आँगन में गया और एक कपड़ा भिगोकर ले आया। उसने झटके से राणो की बाँह पकड़ी और उस लिखावट पर कपड़ा रगड़ने लगा। लिखावट मिट गई तो कपड़ा फेंककर राणो को सावधान किया कि आइंदा अगर ऐसा किया तो उसकी ख़ैर नहीं। अब वह उसकी पत्नी है, अब उसे बीजा (विजय) को याद करने का अधिकार नहीं। राणो जस की तस बैठी रही। उसके चेहरे पर बल्ली को कोई डर नज़र नहीं आया। वह राणो के तेवर में बग़ावत की गूँज सुन रहा था।

दो-चार दिन बीते होंगे कि राणो फिर बल्ली के सामने वही बाँह लिए खड़ी थी। उस पर कोई इबारत लिखी थी। ज़रूर इस पर विजय का ही नाम लिखा है-बल्ली ने सोचा और उसे पीटना श ुरू कर दिया। राणो ज़रा भी नहीं रोई, न गिड़गिड़ाई, बस चुपचाप पिटती रही। उसके बाद तो यह सिलसिला आम हो गया। राणो इबारत लिखी बाँह उसके सामने कर देती, बल्ली कर्तव्य की तरह उसकी पिटाई करता, वह पिटने के बाद हँसती और बल्ली की तरफ़ कँटीली नज़र का तीर फेंकती। बल्ली उस तीर से बुरी तरह घायल होता और तड़पता। एक दिन जब राणो ने इबारत लिखी बाँह उसके सामने बढ़ाई तो बल्ली ने उसे पीटा नहीं, पूछा,''आख़िर तू चाहंदी की हैं ?''

''तेरे तों मुकती।''

क्षेत्र के गाँवों की पंचायतों के सामने ऐसे विवाहों से सम्बंधित मसले अब अक्सर आते थे, बल्कि यूँ कहें कि सबसे ज़्यादा मसले आते ही इस क़िस्म के थे। किसी की मोल लाई हुई बीवी घर का सामान लेकर चम्पत हो गई होती, कोई माँ, बाप, बहन, बुआ, मामा आदि से मिलने जाती और लौटकर नहीं आती या शादी के थोड़े समय बाद ही किसी और के घर में बैठ जाती। पंचायतें अब ऐसे मसलों को बड़े मज़े में सुनती थीं और अपने विस्तृत अनुभवों के आलोक में कभी-कभी भागी हुई बीवी को वापस लाने में कामयाब रहतीं या फिर मामले पुलिस के सुपुर्द कर दिए जाते जो समय बीतने और पुलिस की जेबें भरने के बाद ख़ुर्द-बुर्द हो जाते। यह मामला तो बहुत आसान था, सो पंचायत होते ही राणो को मुक्ति मिल गई। इस बात की चिंता करना पंचायत का काम नहीं था कि राणो या बल्ली की भविष्य की ज़िंदगी का क्या होगा।

लगभग ढाई साल बाद बल्ली तीसरी बार बेड़ी चढ़ा। उसकी दुल्हन उससे दो-तीन साल बड़ी रही होगी। उसे बताया गया था कि सुखजीत कौर उर्फ़ सुक्खी विधवा है, उसका ऑपरेशन हो चुका है सो वह वंश नहीं बढ़ा पाएगी। देखने में वह राणो से भी ज़्यादा सुंदर थी। उसने आते ही सारा घर सँभाल लिया। माँ को घर का काम करने ही नहीं देती थी। बोलती तो लगता गुनगुना रही है। गुस्सा तो उसमें नाम का भी नहीं था। रोज़ बल्ली के लिए खेत में रोटी लेकर जाती। किसी दिन बहुत व्यस्त होने के कारण किसी और के हाथ रोटी भेजती तो बल्ली रोटी खाता ही नहीं। वह चाहता था कि सुक्खी उसके सामने बैठी रहे और वह उसे देखते हुए रोटी खाता रहे। उसे देखे बिना रोटी उसे भाती ही नहीं थी। कभी सुक्खी व्रत रख लेती तो बल्ली भी रोटी नहीं खाता। उसे सुखजीत कलैंडरों में दिखाई देने वाली देवियों जैसी लगती, जिस पर आँखें मूँदकर भरोसा किया जा सकता था। शायद इसीलिए उसने शादी के कुछ दिनों बाद ही अपनी पहली दोनो शादियों के बारे में सब कुछ उसे बता दिया था। शादी के पहले दिन जिस सुक्खी ने अपने जेठ के पाँव छुए थे, सारी हक़ीक़त जानने के बाद अब वह जेठ के सामने भी नहीं पड़ती थी और न ही कभी उनके घर जाती थी। उसकी शादी को क़रीब दो महीने हुए थे जब बल्ली ने उसे बताया कि जेठ के यहाँ तीन लड़कियों के बाद लड़का हुआ है। वह सारे गाँव को 'पाल्टी' दे रहा है और उनको भी वहाँ जाना है। सुक्खी ने कहा, ''तुसीं ते माता जाओ, मैंने नहीं जाणा।''

''क्यों नहीं जाणा सुक्खी, ए ताँ खुशी दा मौका है।''

''मैं तुहानू नहीं रोकदी, तुहाडे ओ भाई ने पर मैं उस बंदे दे घर नहीं जा सकदी जिसने मेरे घरवाले दा घर नहीं वसण दित्ता।'' सुक्खी की बात सुनकर बल्ली का रोम-रोम आनंद से पुलकित हो उठा। उसके भाई ने ज़्यादती उसके साथ की थी, दर्द सुक्खी को हो रहा था। उसने फ़ैसला किया कि वह भी अपने भाई के घर नहीं जाएगा पर सुक्खी उसके इस फ़ैसले से सहमत नहीं हुई। उसने क़सम देकर उसे वहाँ भेजा। इससे बल्ली के दिल में सुक्खी और गहरे बस गई। चार महीने के भीतर-भीतर बल्ली अपने-आप को

सुक्खी के इतना क़रीब महसूस करने लगा कि जैसे उसके साथ उसका जन्मों का नाता हो। उसके बिना रहने की कल्पना भी अब उसके लिए असह्य थी। सुक्खी के बिना उसका जी कहीं नहीं लगता था। खेत जाता तो शाम होने का इंतज़ार करता, दिन उसे बहुत लंबा लगने लगता। रात जब सुक्खी उसके सामने होती तो वह एकटक उसे देखता रहता जैसे कि अमृतपान कर रहा हो। सुक्खी उसे टोकती तो वह खिसिया जाता। कभी उसे देर हो जाती तो भी सुक्खी उसके इंतज़ार में जागती रहती। कभी थकी-माँदी सुक्खी की आँख लग गई होती तो वह चुपचाप कमरे में प्रवेश करता कि कहीं उसकी आहट से सुक्खी की नींद न खुल जाए। वह धीरे से खाट पर बैठ जाता और देर तक उसे देखता रहता। उसे लगता अँधेरे में भी सुक्खी का चेहरा जगमगाता है। बल्ली को सुक्खी की हँसी बहुत अच्छी लगती थी। वह हँसती तो उसके कंध ो भी ठुमक-ठुमककर हँसते। तब बल्ली की उंगलियाँ काँपने लगतीं। वह अपनी काँपती उंगलियाँ कंधों के लबों पर रख देता, तब हाथ भी लबों में तबदील हो जाते। सारी सृष्टि की गति रुक जाती और क़ायनात कोमल कंधों एवं खुरदरी उंगलियों में आ सिमटती।

एक दिन जब बल्ली घर लौटा तो पाया कि सुक्खी घर में नहीं है। वह व्यग्र हो उठा। माँ से पूछा, उसे भी कुछ पता नहीं था। सारा पड़ोस देख लिया गया पर सुक्खी कहीं नहीं मिली। रात निकल गई, सुक्खी नहीं आई। बल्ली को लगा, शायद अपणे 'पेके' गई हो पर बताकर जाती तो क्या वह मना करता। बल्ली को इतना तो पता था कि उसके पेके मानसा में हैं पर अता-पता उसके पास नहीं था। वह ज़िंदगी में कभी जाखल से आगे नहीं गया था। सुक्खी के बिना उसका हाल बेहाल था। उसका एक दोस्त था दीदार। दीदार कई बार मानसा हो आया था। शायद वह उसकी कोई मदद कर पाए-यह सोचकर वह उससे मिला। फिर दोनों दोस्त जाखल होकर मानसा के लिए निकल पड़े। दो दिन इधर-उधर भटकते रहे पर कहीं सुक्खी की छाया भी नहीं दिखी। आख़िर थक-हारकर घर लौट आए। बल्ली की दुनिया उजड़ गई थी। उसे न रोटी अच्छी लगती, न किसी काम में मन लगता। दिन-रात बस अपने नसीब को कोसता रहता।

अचानक पाँचवें दिन सुक्खी लौट आई। उसे देख बल्ली की खुशी का ठिकाना नहीं था पर प्रत्यक्षतः वह सुक्खी से रूठ गया। सुक्खी ने मिन्नतें कर लीं पर उसने रोटी नहीं खाई। उसने नहीं खाई तो सुक्खी ने भी नहीं खाई। रात हुई। बल्ली उसकी ओर पीठ कर खाट पर लेटा था। अचानक सुक्खी ने उसके बालों पर हाथ फिराते हुए पूछा,''नराज हो?'' बल्ली कुछ नहीं बोला। वह उसके पास आ बैठी। बल्ली के भीतर कुछ चटका।

''मैं जाणदी हाँ, तुसीं नराज हो।''

''हाँ, बिना दस्से कित्थे तुर गई सी, मैं सोचेया किते '' बल्ली का कण्ठ रुंध गया।

''तुसीं सोचेया के मैं तुहानू छड के भज गई है ना'', बल्ली कुछ नहीं बोला, ''तुहाडा सोचणा जैज है। अजकल कोई भरोसा नहीं किसे दा।''

''पर मेरी सुक्खी दे मैनूँ भरोसा है, मैनूँ तां मेरे नसीब ते भरोसा नहीं रेहा। तैनूँ पता है तेरे बिना कीवें कटे ने एह दिन'' बल्ली सुक्खी की गोद में सर रखे रो रहा था और सुक्खी उसके आँसू पोंछ रही थी। थोड़ा सामान्य हुआ तो पूछा, ''पर तू गई कित्थे सी ?''

''मानसे गई सी अपणे पेके, मेरा वी माँ-प्यो, भैण-भरावाँ नूँ मिलण दा जी करदा है।''

''पर तू दस के वी ता जा सकदी सी, मैं दो दिन मानसे दी सड़काँ ते टंगा तोड़दा तैनूँ लभदा रिहा।''

''हाय ओए मैं सदके जावाँ पर मैं ताँ सुणया है कि मेरा चन्न कदे जाखल वी नहीं टपेया।''

''दीदार नूँ नाल लै के गया सी।''

सुक्खी बल्ली को प्यार से ताके जा रही थी और बल्ली तो जैसे होश ही खो बैठा था। फिर सहसा रात तारों के साथ खिलखिलाने लगी, सुक्खी हवा हो गई, बल्ली पानी हवा तारों को उड़ा पानी के पास ले आती पानी में नहाकर तारे हवा में उड़ने लगते फिर तारों समेत हवा पानी में डुबकी लगा देती हवा की महक पानी में घुल जाती। हवा-पानी का यह खेल सूरज उगने तक चलता रहा। अगली सुबह बल्ली को खेत कुछ ज़्यादा हरे दिखाई दिए, गाँव के तालाब में पानी कुछ ज़्यादा साफ़ हो गया, गलियों में भौंकते कुत्ते नज़र नहीं आए, धूप का रंग सुनहरा हो गया, झरबेरी पर लाल बेर चमकने लगे, पगडंडी पर पाँव थिरकने लगे।

हर दो-ढाई महीने में सुक्खी अपने 'पेके' जाती, हफ़्ते-दस दिन में लौट आती। शादी को ढाई साल हो चुके थे। गाँव में तरह-तरह की अफ़वाहें थीं- कि सुक्खी पेके नहीं जाती, वह अपणे किसी पुराने यार से मिलने जाती है, कि वह शहर के किसी होटल में धंधा करती है, कि भोली शक्ल की आड़ में मासूम लड़कियों को फँसाकर गिरोह के हाथ बेच देती है-आदि। बल्ली ऐसी अफ़वाहें सुनकर परेशान हो जाता था। उसे यक़ीन नहीं होता था कि उसकी प्यारी सुक्खी का ऐसा भी कोई रूप हो सकता है। कई बार मन हुआ कि वह उसके सामने इन अफ़वाहों का ज़िक्र करे और उसके मुँह से इनका खण्डन सुने पर उसने कभी सुक्खी से इस बारे में कुछ नहीं पूछा। डरता था कि कहीं वह उसे छोड़ न जाए। वह उसे इतनी अच्छी लगती थी कि बल्ली किसी भी क़ीमत पर उसकी नाराज़गी सह ही नहीं सकता था।

और फिर एक सुबह सुक्खी ने बल्ली को नहा-धोकर नई तहमद, कमीज़ और जूती पहनने का आदेश दिया। वह कुछ समझ नहीं पाया। पूछने पर भी सुक्खी हौले-हौले मुस्कुराती वही आदेश दोहराती रही। अब आदेश सुक्खी का था तो उसे मानना ही था। थोड़ी देर बाद बल्ली सजा-धजा सुक्खी के सामने खड़ा था। सुक्खी अंदर से एक पीले रंग की पगड़ी ले आई और उसे बल्ली के सिर पर बाँधने में मदद करने लगी। बल्ली की जिज्ञासा चरम पर पहुँच चुकी थी, पगड़ी बाँधते-बाँधते पूछा,''सुक्खी, दस ता सही, अज तैनूँ होया की है ?''

''अज मेरा चन्न उस मानसे शहर विच मेरे नाल जाएगा, जिस श ाहर दियाँ सड़काँ उत्ते ओ मैनूँ लभदा होया दो दिन तक अपणियाँ टंगा तुड़वांदा रेहा।''

बल्ली हैरान था - आज अचानक वह उसे अपने पेके क्यों ले जा रही है, कहीं वह उसे छोड़ने वाली तो नहीं है ? इस आशंका ने उसके भीतर जन्म क्यों लिया - वह समझ नहीं पा रहा था। उसने सुक्खी को देखा तो वह बहुत खुश लगी। उसके हावभाव से कहीं भी ऐसा होने की संभावना तक नज़र नहीं आई। पगड़ी बँध चुकी थी, कमर पर हाथ रखे सुक्खी उसे प्यार से एकटक देखे जा रही थी। बल्ली शरमा गया, साथ ही उसके भीतर की आशंका भी सुक्खी की आँखों की झील में डूबकर दम तोड़ गई।



मानसे में वे जिस घर में पहुँचे, वह बड़ा तो नहीं था पर सुंदर और पक्का था। बल्ली को सबसे पहले वह काली हाँडी नज़र आई जो नज़रबट्टू बनी छत की ग्रिल में टँगी खड़ी थी। घर के आँगन में से सीढ़ियाँ छत की तरफ़ जाती थीं। बल्ली को लगा कि उस दिन सुक्खी को ढूँढ़ते हुए वह इस घर के सामने से भी निकला था, हू-ब-हू यही घर था हाँडी पर बनी हाथ भर ज़बान निकाले काली माई की तस्वीर को वह भूल सकता है ? सुक्खी ने आँगन में से 'भाभी' की पुकार लगाई, चट् से अंदर से एक तीस-बत्तीस वर्षीय गोरी औरत निकली जैसे कि कब से उसी आवाज़ के इंतज़ार में चौखट की ओट लिए खड़ी हो और आते ही सुक्खी से लिपट गई। सुक्खी ने बल्ली की तरफ़ इशारा करते हुए उस औरत से कहा,''एह तेरे नणदोई'' और फिर शरमा गई। उस औरत ने हाथ जोड़कर बल्ली से 'सत् श्री अकाल' कहा तथा आदरपूर्वक अंदर ले गई। तभी हाथ में बैट उठाए, सिर पर बालों की छोटी-सी जूड़ी बनाए एक सात-आठ वर्ष का बालक 'मम्मी-मम्मी' कहता दौड़ता हुआ आया और उसे देखकर चुप हो गया। उसकी माँ ने उसे फुफड़ के पैर छूने के लिए कहा तो उसने चुपचाप 'पैरी पैना' कहकर बल्ली के पाँव छू लिए। बल्ली को वह नन्हा-सा लड़का बहुत सुंदर, सलीक़ामंद और प्यारा लगा। चाय-वाय पीते तक रात हो गई थी। सुक्खी का भाई मक्खन जो किसी वर्कशॉप पर काम करता था, घर आया तो बल्ली से गले लगकर मिला और देर हो जाने के लिए माफ़ी भी माँगी। बल्ली से किसी ने पहली बार माफ़ी माँगी थी और वह भी बिना किसी क़ुसूर के। वह इतना बड़ा आदमी कब से बन गया उसका कण्ठ भर आया। रात को दो सब्ज़ियों के साथ रोटी खाई, सुबह मक्खन में तर मूली के पराँठे। बल्ली पहली बार ससुराल के आनंद का अनुभव कर गद्‌गद् हुआ जा रहा था।

मक्खन काम पर गया था। मक्खन का बेटा पम्मी बाहर छोटे-से आँगन में अपने किसी दोस्त के साथ बैट-बॉल खेल रहा था। आज गुरु रविदास जयंती की छुट्टी थी। सुक्खी अपनी भाभी के साथ बाज़ार गई थी और दोपहर तक आने का कह गई थी। बैठक में अकेला बैठा बल्ली खाट पर अधलेटा टेलीविज़न देख रहा था। वह लगातार चैनल पर चैनल बदलता विस्मित हुआ जाता था। तभी पम्मी अपना खेल ख़त्म कर बैठक में आ गया, आते ही निस्संकोच उससे बोला,''फुफड़ जी, अलमारी विचों एलबम चुक द्यो, मेरा हत्थ नहीं पहुँचदा।'' उसने इशारे से अलबम की जगह बताई, बल्ली ने एलबम उठाकर उसके हाथ में दे दी। लड़का वहीं उसके पास खाट पर बैठ एलबम के पन्ने पलटने लगा। तीसरे पन्ने पर बल्ली की आँखें फँसकर रह गई। एक फोटो में सुक्खी थी, साथ में एक मर्द और एक छोटी-सी बच्ची। पम्मी पन्ना पलटने लगा तो

बल्ली ने उस पन्ने पर हाथ रख दिया, पूछा,''तेरी बुआ दे नाल एह कौण है ?''

''एह फुफड़ ते एह बुआ दी कुड़ी गुड्डी ''

''एह फुफड़ किथे रहंदा है ?''

''खुइयाँ पिंड विच।''

''गुड्डी वी उसदे नाल रहंदी है?''

''फुफड़ तां गुड्डी नूँ रखदा ही नहीं, ओ तां एत्थे साडे घरे रहंदी है या ताए दे घर। कदे-कदे पापा या ताया जी उसनूँ खुइयाँ छड आंदे ने, फुफड़ फेर एत्थे ही छड जांदा है। फुफड़ उसनूँ बहोत कुटदा-मारदा है। गुड्डी ओथे जाण लगे बहोत रौंदी है। बुआ वी जदों उसनूँ मिलदी है तां रौंदी ही रहंदी है।''

''हुण गुड्डी किथे है खुइयाँ ?''

''नहीं ताये दे घर है नंगल कलाँ।''

सुक्खी के बारे में फैली सारी अफ़वाहें अब दम तोड़ चुकी थीं। बल्ली उसके बार-बार कुछ दिनों के लिए घर छोड़ देने का रहस्य जान चुका था। उसकी सुक्खी कितनी दुविधा में थी। एलबम अब वापस अपनी जगह पर थी पर अब बल्ली का मन टेलीविज़न देखने में नहीं लग रहा था। वह खाट पर पसर ऊँघने लगा और उसकी आँख लग गई। सुक्खी ने आकर उसे जगाया। उसने ग़ौर से सुक्खी की आँखों में देखा। तुरंत ताड़ गया कि रोई है, पर उसने कुछ कहा नहीं।

गाँव लौटने के बाद ज़िंदगी पहले की तरह चलने लगी। मानसा से लौटने के बाद सुक्खी ने बल्ली में लगातार हो रहे एक बदलाव को चीन्हा। अब वह पहले की तरह मैला या बिना नहाये नहीं रहता था; बल्कि हर सुबह उठकर नहाता, साफ़ कपड़े पहनता। दो नई तहमद-कमीज़ें भी उसने पन्द्रह दिनों के भीतर सिलवा ली थीं। एक सस्ता मोबाइल भी ले आया था। बल्ली के साथ वह भी मोबाइल पर बात करना सीख गई थी। अब वह भरसक कोशिश करता कि रोटी सुक्खी के साथ ही खाए। सुक्खी को अजीब तो लगता पर वह मन ही मन खुश होती। एक रात वह घर नहीं लौटा बल्कि पड़ोसी के मोबाइल पर फोन किया कि वह सरदार जी (ज़मींदार) के खेत का कुछ सामान लेने के लिए जाखल में है, सुबह आ जाएगा। सुक्खी को खुशी हुई कि उसका सिधरा बलम अब दुनियादारी भी सीख रहा था।

बैसाखी मनाई जा चुकी थी। इस बार गेहूँ बैसाखी से पहले ही कटकर ज़मींदारों के घरों में आ चुकी थी। बल्ली सरदार जी की गेहूँ की ट्रॉली के साथ जाखल मण्डी गया था। दोपहर में पड़ोसी के मोबाइल पर बल्ली का फ़ोन आया कि उसे रात को मण्डी में ही रहना पड़ेगा क्योंकि गेहूँ की अभी बोली नहीं आई है, कल वह जल्दी ही आने की कोशिश करेगा। अगले दिन मकर संक्रांति को गुड़ के मीठे चावल बनाकर सुक्खी बल्ली का इंतज़ार कर रही थी। जैसे-जैसे समय बीत रहा था, सुक्खी की व्यग्रता भी बढ़ती जा रही थी। धीरे-धीरे पल महीनों में बदलने लगे। उसने सुबह से कुछ नहीं खाया था और अब दोपहर भी बीत चुकी थी। बल्ली अब तक नहीं आया था। कई बार वह उसके मोबाइल पर बात करने का प्रयास कर चुकी थी पर सामने से मोबाइल बंद आ रहा था। श ाम के चार बज गए, उसका मन डूबने लगा। भूख-प्यास तो उसकी पहले ही मर गई थी। आख़िर हार कर वह सरदार जी के घर की ओर चल पड़ी कि वे आढ़ती से बात कर बल्ली का पता लगा दें। उसे नहीं मालूम, उसके पत्थर हो गए पाँव सरदार जी के दरवाज़े तक कैसे पहुँचे। ''सरदार जी!'' उसकी बेसब्र पुकार तड़पती लहर-सी अंदर आँगन की दीवारों से टकराई। सरदार जी हड़बड़ा कर दरवाज़े पर आए। सुक्खी ने उसी बेसब्री से पूछा,''ओ कल दे कणक लै के गए ने, हाले तक वी आए क्यों नी, जाखल मण्डी फोन करके आढ़ती तों पुच्छो ताँ सई।'' उत्तर में सरदार जी की बात सुनकर तो उसके पैरों तले की ज़मीन ही खिसक गई। गेहूँ कल ही बिक चुकी थी, बल्ली के साथ गया बिहारी तो कल शाम को वापस भी आ गया था। उसे लगा, वह यहीं दरवाज़े पर गिर जाएगी, लड़खड़ाती आवाज़ में जैसे उसने स्वयं से पूछा,''फेर ओ गए किथे ?''

''खेत'च जाके वेख, किते फाँसी ना खा गेया होवे। घर'च होया होणा कोई रोला। मुल्ल दियाँ तीवियाँ दी एही ता मुसीबत है, सालियाँ पता नहीं, किन्ने खसम करदियाँ ने। मुल्ल'' सुक्खी ने आगे कुछ नहीं सुना। बदहवास दौड़ती खेत में पहुँच गई। खेत में बल्ली उसे कहीं नज़र नहीं आया। ट्यूबवैल वाला कोठा भी सूना पड़ा था। वह कोठे की दहलीज़ पर बैठकर चीखी, भीतर कहीं तसल्ली भी हुई कि सरदार जी की बात सच नहीं निकली। वह वहाँ से चली तो देखा, सरदार जी सामने खड़े थे। उसने एक तीखी नज़र सरदार जी पर डाली और घर की ओर चल पड़ी। सुक्खी की पीठ ने सुना, सरदार जी कह रहे थे, ''चंगा ए, साला खेत विच नहीं मर्‌या, साडे गल'च फंदा पै जाँदा।'' वह घर लौटी तो उसके भीतर सन्नाटा सनसना रहा था, सूरज का रंग ख़ून जैसा लाल हो गया था, सुक्खी के तन पर जैसे कोई रंदा चला रहा था। माँ आज सुबह से ही अपने बड़े बेटे के घर पर थी। सुक्खी घर पहुँची और खाट पर लुढ़क कर रोने लगी, साथ ही बल्ली की सलामती की दुआएँ माँगती जा रही थी। रोते-रोते अँध ेरा हो गया पर उसे बत्ती जलाने का होश ही नहीं था।

अचानक आँगन में उजाला फैल गया। वह उठती कि कमरा भी जगमगा उठा। उसके सामने बल्ली खड़ा था और उसके साथ उसकी उंगली पकड़े, गुलाबी फ्रॉक पहने खड़ी थी गुड्डी। रोती हुई सुक्खी दौड़कर बल्ली से लिपट गई, फिर धरती पर बैठकर बल्ली की टाँगों और गुड्डी को एक साथ अपनी बाँहों में जकड़ लिया।

बल्ली और गुड्डी खाट पर बैठे थे। सामने खड़ी सुक्खी की सवालों से लबालब आँखें बल्ली पर टिकी थीं। बल्ली उसके सवालों को समझ गया था पर उसका कण्ठ बार-बार अवरुद्ध हुआ जा रहा था। यही हालत सुक्खी की भी थी, उसके मुँह से आवाज़ ही नहीं निकल रही थी। बल्ली ने उठकर पानी पिया। सुक्खी को ध्यान आया-हाय उसने तो पानी भी नहीं पूछा। बल्ली ने गुड्डी के कंधे पर हाथ रखा और सुक्खी को देखते हुए बोला,''हुण गुड्डी अपणे नाल रहेगी, हमेशा वास्ते।''

''पर ''

''मैं सुखदेव सिंह तों सारी लिखा-पढ़ी करा लई है, पंज हजार दी रकम वी ओसदे मत्थे मार दित्ती है। हुण गुड्डी ते उस कमीने दा कोई हक नहीं।''

''पंज हजार, तुहाडे कोल ?''

''दीदार कोल लये सी, तू चिंता ना कर, दे देयांगे।''

रात को एक खाट पर सुक्खी और गुड्डी सोए थे, दूसरी पर बल्ली। सुक्खी बल्ली को ताके जा रही थी, बल्ली गुड्डी को। गर्मियों की चाँदनी रात बर्फ़ का गोला बन उनकी खाटों पर आ पसरी थी।

406, सेक्टर-20, हुडा, सिरसा-125055(हरियाणा)-09354545440

आजादी

खलील जिब्रान

वह मुझसे बोले--किसी गुलाम को सोते देखो तो जगाओ मत, हो सकता है कि वह आजादी का सपना देख रहा हो।

'मगर किसी गुलाम को सोते देखो तो उसे जगाओ और आजादी के बारे में बताओ।' मैंने कहा।

विनोद सिल्ला की कविताएं

अनसुलझा प्रश्न

बनाया जिसने
राजमहलों, भवनों, मिनारों को
तरसता रहा वो ताउम्र
छाँव के लिए
खोदा जिसने
तालाबों, कुओं, बावड़ियों को
तरसता रहा वो ताउम्र
पेयजल के लिए
बनाए जिसने
मंदिर, शिवाले, देवालय
वो मांगता रहा हक ताउम्र
मंदिर प्रवेश का
उगाया जिसने
गेहूँ-बाजरा, चना-मक्का, जौ-चावल
तरसता रहा वो ताउम्र
रोटी के लिए
लेनी चाही
शिक्षा तो उसका
काट लिया अंगूठा
क्या कसूर था उनका
आज तक
समझ नहीं आया।

जंगली कौन

कितना भाग्यशाली था
आदिमानव
तब न कोई अगड़ा था
न कोई पिछड़ा था
हिन्दू-मुसलमान का
न कोई झगड़ा था
छूत-अछूत का
न कोई मसला था
अभावग्रस्त जीवन चाहे
लाख मजबूर था
पर धरने-प्रदर्शनों से
कोसों दूर था
कन्या भ्रूण-हत्या का
पाप नहीं था
किसी ईश्वर-अल्लाह का
जाप नहीं था
न भेदभावकारी
वर्ण-व्यवस्था थी
मानव जीवन की वो
मूल अवस्था थी
मूल मानव को
जंगली कहने वालो
जंगली कौन है
पता लगा लो

गीता कालोनी, डांगरा रोड, टोहाना, फतेहाबाद

शमशेर कैंदल 'हमसफीर' की कविता

आओ करें स्वागत सर्दी का

छोटे दिन और लंबी रातें,
मोटे मोटे अब वस्त्र भाते,
काम चले नहीं वर्दी का,
आओ करें स्वागत सर्दी का।

छोड़ा जाए ना अब बिस्तर,
कब तक पहुंचेंगे हम दफ्तर,
भय ठंडी हवा विचरती का,
आओ करें स्वागत सर्दी का।

आंगन में चाय की चुस्की,
पढ़कर खबरें इसकी उसकी,
लो आनंद धूप बिखरती का,
आओं करें स्वागत सर्दी का।

सुहानी रुत मस्ती भरी चालें,
कहर बरपाती रंगीली शालें,
और यूं दरगुजर बेदर्दी का,
आओ करें स्वागत सर्दी का।

धुंध कोहरा और ये ठिठुरन,
बढ़ती जाए दिल की धड़कन,
वक्त नहीं आवारागर्दी का,
चलो करें स्वागत सर्दी का।

सम्पर्क : 9466522464

शिक्षा की हिमायत में राष्ट्रीय एसेंबली का प्रस्ताव

शिक्षा की स्थिति पर कालेज-विश्वविद्यालय व स्कूल शिक्षकों की राष्ट्रीय एसेंबली में चर्चा हुई। उसके बाद एक प्रस्ताव पारित किया गया, जिसे यहां दिया जा रहा है। - सं.

शिक्षा की हिमायत में यह राष्ट्रीय एसेंबली सार्वजनिक-धन से संचालित शिक्षा में अभूतपूर्व तथा गंभीर संकट की पृष्ठभूमि में बुलायी गई है। इस संकट से शिक्षा के आधारों यानी समता, सार्वजनिक पहुंच तथा समता के ही नष्ट हो जाने का और भारतीय संविधान के अनुरूप समावेशी प्रगति, सामाजिक न्याय तथा समान अवसरों के लिए सामूहिक प्रयासों के पंगु बना दिए जाने का खतरा पैदा हो गया है।

राष्ट्रीय एसेंबली यह दर्ज करती है कि एक के बाद एक आयी केंद्र सरकारें, सार्वजनिक धन से संचालित शिक्षा को प्राथमिकता देने तथा मजबूत करने में विफल ही हैं और भारत के सभी नागरिकों के शिक्षा के संवैधानिक अधिकार की गारंटी करने के लिए अनिच्छुक रही हैं। वास्तव में सार्वजनिक धन से संचालित शिक्षा का मौजूदा संकट, सरकार की उन जनविरोधी नीतियों से गढ़ा है, जो शिक्षा का व्यापारीकरण करने के लिए, उसमें निजी तथा विदेशी निवेश को तथा मुनाफे के लिए पहल को बढ़ावा देने के लिए और विश्व व्यापार संगठन-गेट्स तथा टीसा जैसे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार समझौतों के अनुरूप, सार्वजनिक संसाधन निजी बोली लगाने वालों के हवाले करने के लिए गढ़ी गयी हैं। देश की जनतांत्रिक जरूरतों तथा सच्चाइयों से काटकर ये नीतियां बनायी जा रही हैं। ये नीतियां बुनियादी तौर पर इसकी कोशिश करती हैं कि शिक्षा के क्षेत्र से सार्वजनिक निवेश को बाहर खींच लिया जाए, शिक्षा को निजी तथा व्यापारिक लॉबियों के हवाले कर दिया जाए, उसे देश की जनता के बहुमत की पहुंच से बाहर कर दिया जाए और शिक्षा के रूप तथा अंतर्वस्तु को इस तरह थोपा जाए, जो शिक्षा के एक सार्वजनिक वस्तु होने के ही खिलाफ जाता है।

यह राष्ट्रीय एसेंबली गहरी चिंता के साथ यह दर्ज करती है कि भारत सरकार ने उस समय 12वीं योजना में अपने शिक्षा बजट में भारी कटौती करने का रास्ता अपनाया है, जब मजदूर वर्ग, शहरी व ग्रामीण गरीबों तथा सामाजिक रूप से हाशिए पर पड़े तबकों के बीच शिक्षा की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों, पोलिटैक्निकों तथा टैक्नीकल संस्थाओं में निवेश बढ़ाने की जरूरत है। सार्वजनिक निवेश में पिछले कई दशकों से चल रही कटौतियों का नतीजा यह हुआ कि नियमित शिक्षकों की नियुक्तियां जाम पड़ी हैं, शिक्षकों तथा शिक्षणेतर स्टाफ का बड़े पैमाने पर ठेकाकरण हुआ है, छात्र-शिक्षक अनुपात और बिगड़ा है, शोध के लिए फंडिंग तथा छात्रवृतियों में कमी हुई है और क्लासरूम, प्रयोगशालाओं तथा लाइब्रेरी जैसी भौतिक बुनियादी सुविधाओं में गिरावट आई है। शिक्षा की इस अनदेखी को उचित ठहराने की और वास्तविक शिक्षण-शिक्षा के स्थानापन्न के रूप में वर्चुअल कक्षाओं तथा ऑनलाईन पाठ्यक्रमों को आगे करने की जो कोशिशें की जा रही हैं, उन्हें मन्जूर नहीं किया जा सकता है।

निजी क्षेत्र के विस्तार का जो प्रकट प्रभाव हुआ है, उसे सरकारी स्कूलों के नष्ट किए जाने और उन्हें सबसे गरीब तबकों की जरूरत पूरी करने तक सीमित कर दिए जाने में देखा जा सकता है। निजी स्कूलों को कुकरमुत्तों की तरह बढ़ने दिया गया है, जबकि सरकारी स्कूल लगातार उपेक्षा झेल रहे हैं और कई बार तो उन्हें विलय करने पर या बंद हो जाने पर भी मजबूर किया जा रहा है। 1990 के दशक से, सार्वजनिक धन से संचालित उच्च शिक्षा को भी, सरकार द्वारा किए जाने वाले खर्चे में कटौतियों के साथ, ऐसी ही नीतियों का शिकार बनाया जा रहा है। फैकल्टी तथा प्रशासनिक स्टाफ का अस्थायी रूप से काम पर लगाया जाना बढ़ रहा है और ढांचागत सुविधाओं में गिरावट हो रही है। दूसरी ओर, निजी संस्थाओं की स्थापना तथा उनके द्रुत विस्तार को बढ़ावा दिया जा रहा है। आज उच्च शिक्षा के भूदृश्य में संख्यात्मक रूप से निजी संस्थाओं का बोलबाला हो चुका है। इसके साथ ही साथ जल्दबाजी में किए जा रहे 'अकादमिक सुधारों' की बाढ़ आई है, जिन्हें उनकी व्यावहार्यता की परवाह किए बिना और इतनी भारी विविधताओं तथा पंगुताकारी असमानताओं वाले इस देश में, उनके प्रभाव की समीक्षा किए बिना थोपा जा रहा है। इन दोनों के योग का नतीजा यह हुआ है कि शिक्षा की गुणवत्ता में भारी गिरावट हुई है और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा को भारतीय जनता के बहुमत की पहुंच से बाहर पहुंचा दिया गया है। इसके साथ ही बढ़ते पैमाने पर प्रशासन के तानाशाहीपूर्ण तरीकों तथा शरारतपूर्ण साधनों का उपयोग किया जा रहा है ताकि जनतांत्रिक राय को बांटा जा सके और सार्वजनिक धन से संचालित शिक्षा के क्षय के खिलाफ जनविरोध की आवाजों को कुचला जा सके।

यह राष्ट्रीय एसेंबली, सभी स्तरों पर शिक्षा को प्रशासित करने के एक केंद्रीयकृत नीति निर्मित करने की भारत सरकार की

असवैधानिक कोशिश पर आपत्ति दर्ज कराती है। यह कोशिश, हमारे देश की जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के संघात्मक स्वरूप को और भारतीय संविधान की समवर्ती सूची के तहत नीतियां तय करने व शिक्षा का प्रशासन करने के राज्यों के विशेषाधिकार को पूरी तरह से अनदेखा करते हुए की जा रही है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने जिस आलोकतांत्रिक तरीके से, राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनपीई) की समीक्षा की अपनी कोशिश में, कुछ चुनिंदा एनजीओ, व्यापार लॉबियों तथा टैक्नोक्रेटों को ही शामिल करने का रास्ता चुना है और छात्रों व शिक्षकों के सामूहिक निकायों की चिंताओं को तथा अपीलों को अनदेखा ही कर दिया है, यह राष्ट्रीय एसेंबली उस पर विरोध जताती है। इस राष्ट्रीय नीति की प्रस्तावित विशेषताएं -- सार्वजनिक-निजी सांझेदारी का मॉडल, रूसा, केंद्रीय विश्वविद्यालयों के लिए सांझा कानून तथा उच्च शिक्षा में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश-- सरकार के इसी झुकाव को प्रतिबिंबित करती हैं कि शिक्षा को एक खरीदे-बेचे जा सकने वाले माल की तरह लिया जाए, ज्ञान को औजार में घटाया जाए तथा वैज्ञानिक व आलोचनात्मक शिक्षा के उद्यम का त्याग किया जाए, निजी क्षेत्र का पक्ष लिया जाए, अकादमिक प्रशासन के कार्पोरेट मॉडल थोपे जाएं, जिनमें सार्वजनिक जवाबदेही का कोई तंत्र ही नहीं होता है, आरक्षण की नीति को पलटा जाए, बालिकाओं, वंचितों तथा भिन्न सामर्थ्यवानों की जरूरतों को अनदेखा किया जाए और छात्रों व शिक्षकों के खिलाफ दमनकारी कदम थोपे जाएं, ताकि जनतांत्रिक राय व आलोचना को कुचला जा सके।

यह नेशनल एसेंबली, विश्व व्यापार संगठन-गेट्स तथा टीसा के अंतर्गत, शिक्षा को एक व्यापारिक सेवा के रूप में पेश करने की भारत सरकार की वचनबद्धता का विरोध करती है। इन अंतराष्ट्रीय व्यापार समझौतों के तहत, तृतीयक शिक्षा (उच्च शिक्षा व शोध) को विश्व स्तर पर व्यापार के लिए उपलब्ध सेवाओं के रूप में लिया जा रहा होगा। शिक्षा सेवाओं में विश्व व्यापार के लिए दरवाजा खोलने के लिए, शिक्षा नीतियों के लिए इनका तकाजा किया जाएगा कि सभी निवेशकर्ताओं के लिए 'बराबरी की होड़ का मौका' मुहैया कराएं और इस तरह उन शिक्षा सबसीडियों का अंत कराया जा रहा होगा, जो फिलहाल हमारी जनता के सबसे बड़े हिस्से की जरूरतें पूरी करती हैं और ऐसे विश्वविद्यालयों, कालेजों तथा संस्थाओं के संचालन में मदद करती हैं, जो एक सार्वजनिक सेवा के रूप में उच्च शिक्षा मुहैया कराते हैं। इसके अलावा, व्यापार समझौते सरकार से इसका तकाजा करते हैं कि वह शिक्षा की अंतर्वस्तु के प्रति एक बाजार-अनुकूल रुख अपनाए। यह उन अकादमिक अनुशासनों के विकास को गंभीर रूप से चोट पहुंचाएगा, जिन्हें विश्व उद्योग व वाणिज्य की कौशलगत जरूरतों से सीधे-सीधे जुड़ा हुआ नहीं समझा जाता है। इसका नतीजा यह भी होगा कि शोध तथा मौलिक अकादकमिक खोज के क्षेत्रों पर भी अंकुश लगाए जाएंगे। सबसे महत्वपूर्ण यह कि इस तरह का व्यापारीकरण यह सुनिश्चित करेगा कि शिक्षा अपने अंदर वैज्ञानिक खोज की ऐसी स्वतंत्र व आलोचनात्मक भावना को नहीं समाहित कर पाएगी, जिसका हमारी जनतांत्रिक चेतना के विकास तथा प्रगतिशील सामाजिक रूपांतरण के साथ अभिन्न रिश्ता है।

नेशनल एसेंबली मांग करती है कि सरकार फौरन शिक्षा को विश्व व्यापार संगठन-गेट्स, टीसा तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय व्यापार समझौतों से बाहर खींच लें, जो संभावित रूप से हमारे देश के इस संप्रभु विशेषाधिकार का अतिक्रमण करते हैं कि वह अपनी ही शैक्षणिक प्राथमिकताएं तथा नीतियां तय करे। ये समझौते देश के हरेक नागरिक के समतापूर्ण, वहनीय तथा उम्दा गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के संप्रभु अधिकार को कमजोर करते हैं।

यह राष्ट्रीय एसेंबली, राष्ट्रव्यापी अभियानों तथा संसदीय हस्तक्षेपों के जरिए सार्वजनिक हस्तक्षेपों का आह्वान करती है ताकि इस विनाशकारी नीतिगत दिशा को रोका जा सके और शिक्षा के व्यापारीकरण व निजीकरण का प्रतिरोध किया जा सके।

यह राष्ट्रीय एसेंबली यह संकल्प लेती है कि निम्नलिखित मांगों को कारगर तरीके से उठाने और उन्हें हासिल करने के लिए सतत् जनसंघर्षों का निर्माण करने के खास लक्ष्य को लेकर, शिक्षा की हिफाजत के लिए एक राष्ट्रीय जनमंच के निर्माण में मदद करेगी।

1. शिक्षा को फौरन विश्व व्यापार संगठन-गेट्स, टीसा तथा द्विपक्षीय या बहुपक्षीय अंतराष्ट्रीय व्यापार समझौतों से बाहर खींचा जाए।
2. शिक्षा पर बजट आबंटन बढ़ाकर सकल घरेलू उत्पाद के 6 फीसदी तक किया जाए ताकि सभी स्तरों पर शिक्षा की बढ़ती मांग तथा जरूरतों को पूरा किया जा सके और शिक्षा के लिए सार्वजनिक बुनियादी ढांचे का विस्तार किया जा सके।
3. शिक्षा के सार्वजनिक अधिकार को अमल में उतारते हुए सभी नागरिकों के लिए सैकेंडरी स्तर तक मुफ्त शिक्षा और समाज के सभी तबकों के लिए उचित दाम पर तृतीयक शिक्षा।
4. शिक्षा में वैज्ञानिक खोज तथा जनतांत्रिक मूल्यों को बढ़ावा देना, जिनके जरिए सांस्कृतिक विविधता तथा रायों की बहुलता के प्रति सम्मान को पोसा जा सके।
5. एक नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनपीई), जो भरतीय संघ के संघात्मक चरित्र को तथा भारतीय संवैधानिक मूल्यों के दायरे में अपनी प्राथमिकताएं तथा बलाघात तय करने के राज्यों के विशेषाधिकारों को प्रतिबिंबित करे। यह नीति राज्यों और छात्रों, शिक्षकों तथा शिक्षणेतर कर्मचारियों के सामूहिक निकायों के साथ परामर्श से तैयार की जाए।

फासला

ज्ञान प्रकाश विवेक

वालैंट्री रिटायरमेंट स्कीम किसी उपकार की तरह पेश की गई थी, जिसमें लफाज्जियों का तिलिस्म था और कारपोरेट जगत का मुग्धकारी छल! इस छल का मुझे बाद में पता चला। फिलहाल तो मैं इस बाईस लाख के चैक को देखकर अभिभूत था, जो मुझे कम्पनी ने थमाया था।

बाईस लाख! मैं तो उछल पड़ा था। मैं खुद को बादशाह सलामत समझ रहा था। मैं बेहद खुश था। इतना खुश कि चैक को मैंने कई-कई बार देखा। बाईस के बाद लिखी 'जीरो' की मैंने दसियों बार गिनती की। मैंने चैक को चूमा, माथे से लगाया।

यह तो मुझे बाद में पता चला कि तंत्र ने यह 'गोल्डन शेकहैंड' लोहे के दस्ताने पहनकर किया।

मैंने चैक को कमीज के एक जेब में रखा, लेकिन कमीज के दूसरे जेब से कुछ गिरा - वो खालीपन था।

वालैंट्री रिटायरमेंट के पसःमंजर एक तीखा और चुभन पैदा करता सवाल भी आ खड़ा हुआ था। पहले मैंने इस सवाल की परवाह नहीं की थी। बाद में यही सवाल रफ्ता-रफ्ता मेरे अंतरलोक तक जा पहुंचा कि मैंने 'वी आर' क्यों ली? मैंने अपने-आपको खालीपन के दश्त और अकेलेपन के बीहड़ में क्यों लावारिस छोड़ दिया?

बाईस लाख का चैक मैंने अपने दोनों बेटों को दिखाया। मैंने सोचा कि वो खुश होंगे। हाथ मिलाकर 'कंग्रेट' करेंगे। भविष्य की योजना बनाएंगे, लेकिन वो खुश नहीं हुए थे। मैं उनके चेहरों को देखता रहा। उनके चेहरे खाली ब्लैकबोर्ड जैसे। जिस पर कोई इबारत नहीं थी। हम तीनों आमने-सामने थे। बेहद करीब। लेकिन फासला कितना लंबा था।....इस महानगर में मेट्रो बिछा दी थी और लग्जरी कारों के अम्बार लगा दिए थे कि दूरियां कम हों। लेकिन हम तीनों के बीच का फासला जो दृश्य में दो फुट था, लेकिन अदृश्य में हजारों मील का था। उसे कोई मेट्रो तय नहीं कर सकती थी। चूंकि अदृश्य का कोई स्टेशन होता ही नहीं।

मेरे दोनों बेटे मेरे सामने उपस्थित थे, लेकिन लगता था। वो अनुपस्थित हैं। उनकी इस उपस्थिति ने मुझे बेचैन कर दिया था।

मैं चैक लेकर चला आया।

पत्नी को गुजरे कई साल हो गए थे। वो होती तो चैक उसे दिखाता। लेकिन वो इस संसार को विदा कहके जा चुकी थी।

यह तो मुझे बाद में पता चला कि मेरा सारा दिन घर में रहना। उनके जीवन में हस्तक्षेप की तरह था। मैं सोचता था परिवार जैसी कोरी आत्मीय जज्बातों से लबरेज कोई चीज होती है। मेरी सोच पुराने जमाने की थी। नए जमाने ने बेहद जरूरी, लेकिन सिन्थेटिक लफ़्ज ईजाद किया था, वो था - प्राईवेसी।

और मेरी वालैंट्री रिटायरमेंट उस प्राइवेसी को बेपर्दा करती थी।

जब मुझे पता चला था कि डोर क्लोजर क्यों अनिवार्य होते गए हैं, हमारे समाज में। पहले, डोर क्लोजर दफ्तरों में होते थे, अब घरों में। बंद दरवाजों के उस पार मेरे बरखुरदार, इधर मैं।

मेरे दोनों साहबजादे ऊंचे पदों पर थे। ऊंची सेलरी ऊंचा पैकेज और ऊंची उड़ान। वो कम बोलते। वो ज्यादा वक्त लैपटाप के सामने होते। कई बार उनका अपना चेहरा भी लैपटाप के स्क्रीन जैसा नजर आता - जिस पर कई सारे तनाव होते, लेकिन भावना गायब। उनके कुछ अहम शब्द थे - ग्रोथ, प्रेजेंटेशन, आटीच्यूड, सेलरी, स्किल, टाईम मैनेजमेंट, रेस, ब्रॉड, लुक, प्रफोर्मेंस, मीटिंग, रिव्यू क्लाइंट, टारगेट अचीवमेंट...। यही उनकी जिंदगी का शब्दकोश था। यही उनका सभ्य संसार भी था।

मैं एक महीना घर में रहा -- जिसे मैंने बनवाया था और जिसमें मैं खुद, सबसे ज्यादा बेगाना और सबसे ज्यादा लापता था।

हकीकत पर कल्पना के वर्क चढ़े रहें तो अच्छा होता है। हम मुगालते में रहते हैं और मुगालते हमें खुश रखते हैं। विडम्बना यह थी कि हकीकत बेपर्दा होकर सामने आ खड़ी हुई थी। इतने सालों का विभ्रम एक महीने में टूट गया था।

मैंने दफ्तर जाने का सोचा। घर की एकरसता को तोड़ने के लिए मुझे ये विचार अच्छा लगा।

■

एक महीने बाद दफ्तर जा रहा हूं। 'वी आर एस' के बाद पहली बार दफ्तर। किस काम से जा रहा हूं? नहीं, कोई काम नहीं। फिर किस लिए जा रहा हूं? यह एक सामान्य सा प्रश्न है, लेकिन सामान्य-सा सवाल मेरी भावनाओं को झिंझोड़ रहा है, लेकिन मैं इस

प्रश्न से नहीं उलझना चाहता। मैं बेहद उत्साहित हूं। जोश से भरा हुआ मैं पुरानी यादों को ताजा करता हुआ। गुजरे हुए समय को पुनर्जीवित करता मैं।

मैं जब घर में था, तो मैंने एक-दो बार ड्रिंक्स भी लिए। अकेला मैं और अकेला मेरा गिलास। मुझे लगा, मैं अपने गिलास में खालीपन के आइस क्यूब डाल रहा हूं। इस एक महीने के दौरान में बहुत चुप रहा हूं। मैं चुप मेरा गिलास चुप। कमरा चुप और दीवारें चुप।

दफ्तर में था तो हजारों बातें निकल आती थी। हम सब दफ्तर के सहकर्मी फाइल, केबिनेट, मेज-कुर्सी से लेकर चाय के कपों पर लगे, स्त्रियों के लिपस्टिक के निशानों पर घंटों बात कर सकते थे। हमारे पास और कुछ नहीं था, लेकिन बातों का खजाना था। तब हम सोचते थे कि हम दोस्ती का जशन यूं ही जिंदगी भर मनाते रहेंगे और हमारे बीच संबंधों के दरिया कभी नहीं सूखेंगे।

लेकिन इस बीच एक महीने से मैं आवाजों की दुनिया से बाहर रहा। अजीब सा घटित हुआ है मेरे अंदर। मुझे बाइस लाख का चैक बेकार लगने लगा है, आवाजें बेशकीमती।

इस एक महीने के दौरान मैंने शेलफ पर रखी उस चाबी को भी कई बार उठाया है - चाबी, जो मेरी मेज की दराज की थी। पता नहीं क्यों, मैं दराज की चाबी जेब में डालकर चला आया? यह कोई मोह था या फंतासी या पागलपन? कई बार बेजान चीजों से मोह छूटता नहीं। मुझे अपनी मेज से बेहद प्यार था। मैं इस पर कोहनियां टिकाकर बैठता तो मेज मेरा तसव्वुर बन जाती। कभी पृथ्वी तो कभी दोस्त!

मैं अपनी मेज की चाबी उठाकर बैठता हूं जैसे चाबी न हो, मैडल हो। मैं इस चाबी को हाथ में रखता हूं तो स्मृतियां आकर किसी न दिखाई देने वाले ताले को खोल देती हैं - बेआवाज!

क्या विडम्बना है, रिटायरमेंट के वक्त लोग अपनी दराजों में रखे बालपेन, कैलकुलेटर, पंचिंग मशीन, स्टेपलर मशीन यहां तक कि पेपरवेट झोले में डालकर ले आते हैं अपने घर! मैंने सब चीजें दराज में पड़ी रहने दी। दराज को खुला रख दराज की चाबी उठा लाया। कोई पूछे कि मैं चाबी का क्या करूंगा, तो यकीनन, यह सवाल मुझे भाले की तरह चूभेगा।

मुझे एक और बात का भी पता चला है इन दिनों! जिन आवाजों को आप बाहर छोड़ कर आते हैं, जब आप अकेले होते हैं, वही आवाजें आपके अंदर शोर मचाने लगती हैं। आवाजें, तार पर बैठी चिड़ियाओं की तरह हो जाती है।

मैं इन शोर मचाती आवाजों के बारे में किसी को कुछ नहीं बताता। मैं एक खाली पड़े टापू जैसा हो गया हूं। खालीपन अगर कैरीबैग की तरह होता तो उसे वस्तुओं से भर देता। खालीपन कोई छाया है, न दिखाई देने वाली छाया।

इधर, एक अजीब बात मैंने महसूस की है। गली के लोग मुझसे अब उस भाव से नहीं मिलते, जैसे कि पहले मिला करते थे। शायद मैं खाली और व्यर्थ हो गया हूं या शायद काम पर जाने वाले लोगों को कुछ और नजरिए से देखती है दुनिया!

क्या यह सच नहीं कि व्यस्तताएं स्टेटस का निर्माण करती हैं। मैं नौकरी में था तो मेरा भी एक स्टेटस था और आत्मविश्वास...उसे तो मैं कभी मफलर की तरह लपेटता कभी टाई की तरह कमीज के कॉलरों के बीच सजाता। तब, मैं अपने-आपको मैनेज करता था और एक मेनेरिज्म में अपना लाइफ स्टाइल चमकाता। प्रोफाइल भी एक जरूरी चीज होती है जेंटिलमैन!

जॉब मैं था तो एक रूटीन था। रूटीन लफ़्ज से मैं खूब चिढ़ता था। नौ बजे निकलता। सात बजे वापिस घर। थका टूटा। खा-पीकर चारपाई या दीवान पर गिरता। इतनी गहरी नींद कि जलजले चारपाई के नीचे से गुजर जाते और मुझे पता न चलता।

लेकिन अब बहुत देर से नींद आती है। कई बार तो बिल्कुल भी नहीं आती। तारे देखने या तारे गिनने का शौक होता तो उस शौक को पूरा कर लेता। बड़े बेटे ने इसे सिस्टेमेटिक चेंज बताया तो छोटे वाले ने मेटाबालिक चेंज। वो चाहते तो अंग्रेजी के कुछ और प्रभावित करने वाले शब्दों का इस्तेमाल कर सकते थे।

कैमिस्ट ने एक दिन चिंता व्यक्त करते हुए कहा 'सर, ये वे वेलियम फाइव किसकी सलाह पर ले रहे हैं? इससे तो अच्छा है कि आप ऐलप्रेक्स लें।'

अनजान कैमिस्ट अपनी बात कहकर मुझे देखता रहा। मेरे चेहरे पर अकेलेपन के धब्बे थे। दिल को देखता तो उसमें भी हरे जख़्मों की छोटी-सी बस्ती बस रही थी।

मेरी अलमारी में वैन हयूजन, लुइस फिलिप, पार्क ऐवेन्यू, जारा, पीयरे कार्दिन और अरमानी ब्रांड की बीसियों कमीजें हैंगरों पर टंगी थी। फॉरमल पैंटों के अलावा, ली कूपर लिवायस की जींन्स भी थीं। कफ लिंक्स, परफ्यूम, क्रीम, रूमाल, शानदार रेड टैप और वुडलैंड के जूते...सब कुछ मेरे सामने।

और मैं! कुर्ता-पाजामा पहनकर अपने कमरे में भटकता हुआ। रेलगाड़ी का एक अकेला डिब्बा-खाली सा डिब्बा!

■

कई दिनों से बहुत बोर हो रहा था। बोर तो क्या अपने भीतर बासीपन महसूस करने लगा था। बासीपन को तोड़ने का मुझे एक ही जरिया नजर आया - अपने दफ्तर चला जाऊं। पुराने सहकर्मियों से मिलूं। खूब हंसूं। खूब बातें करूं। चाय के कप और अनन्त बातें। मैं तसव्वुर में डूब गया।

चुनांचे, एक महीने बाद अपने दफ्तर जा रहा हूं। 'अपना दफ्तर' कहते हुए मेरी जबान थोड़ी लड़खड़ा गई है। दुनिया-ए-फानी में जब देह तक अपनी नहीं, तो दफ्तर कैसे अपना हुआ?

इस सच्चाई का अहसास मुझे अब होने लगा है। हमारे समय के एडम स्मिथों ने नए आर्थिक जोन बनाए हैं और ऐसे जोन में लैपटाप जितना महत्वपूर्ण हुआ है आम आदमी उतना अपमानित।

वालैंट्री रिटायरमेंट जैसे कारपोरेट जगत के प्रपंच ने मनुष्यों को उनकी औकात का रेज़ा-रेज़ा करते हुए बड़े बेशर्म लहजे में समझा दिया है कि उन्हें जब चाहे एक अदद चैक के साथ दाखिल-खारिज किया जा सकता है।

मैं आफिस के बिल्कुल पास खड़ा हूं। आरती मैडम मेरे बिल्कुल पास से होकर निकली है। वही चाल में तेजी। वही आंखों में झलकता भविष्य। वही चेहरे पर टप-टपाता आत्मविश्वास और वही परफ्यूम-चैनल फोर! और वही स्नॉबरी।



आरती मैडम का इस तरह अजनबी होकर गुजर जाना मुझे चकित कर गया है। मैं थोड़ा-सा व्याकुल भी हो गया हूं। आरती मैडम के साथ मैंने कई बार चाय पी है सैंकड़ों बार। चाय के कप से मैं टी-बैग निकालता तो वो तुरंत कहती, इधर दीजिए। डस्टबिन यहां रखी है।'

एक टी-बैग होता। चार उंगलियां। दो मेरी दो आरती मैडम की। हमारी उंगलियां एक-दूसरे की उंगलियों को छू रही होतीं। टी-बैग धागे के साथ बीच में लटक रहा होता। एक क्षण के लिए सब कुछ ठहर गया प्रतीत होता। यह एक क्षण का अनुभव, एक अनुभूति में बदल जाता।

अब मुझे कई बार महसूस हुआ है जिंदगी एक खाली पड़ा चायघर है। चाय है, टी बैग है। मैंने टी बैग पकड़ रखा है, लेकिन आरती मैडम की उंगलियां नहीं होती। जो टी बैग को पकड़ लिया करती थीं।

आरती मैडम का इस तरह चले जाना जैसे कोई अजनबी हो, मुझे अभी तक व्याकुल कर रहा है। यह भी संभव है कि उसने मुझे देखा ही न हो। या शायद देखा हो। या शायद देखकर अनदेखा कर गई हो। या शायद वो जल्दी में हो।

वो सचमुच किसी जल्दी में थी। जिन्हें जल्दी होती है, वो चले जाते हैं। जो दुविधा में होते हैं ठिठके खड़े रहते हैं जैसे कि मैं। अब यह दुविधा मुझे ज्यादा परेशान करने लगी है कि मुझे दफ्तर नहीं आना चाहिए था। ऐसा लगता है कि यह कोई आरती मैडम इफैक्ट है।...

अचानक पछतावे का कोई पथरीला पेड़ उग आया है मेरे अंदर! मैं चकित हूं और बेचैन!

वैसे जिंदगी है भी क्या? जिंदगी और जो भी हो, जिंदगी पछतावों का ग्रेंड टोटल भी होती है। हम तमाम उम्र पछताते ही तो रहते हैं।

तमाम गर्दो-गुबार को झाड़ता हुआ आज मैं दफ्तर आया हूं। दरअसल मैं उन गुम हो चुकी खुशियों, उदासियों, ठहाकों की तलाश में निकला हूं।

दफ्तर तीसरी मंजिल पर है। सांस की तकलीफ के बावजूद मैं सीढ़ियों से चढ़ रहा हूं। दफ्तर की लिफ्ट मैंने छोड़ दी है। जानबूझ कर। सीढ़ियां चढ़ते-उतरते, सीढ़ी के रेलिंग पर हाथ रखकर खड़े होना। सोचना। नाखून से कुछ कुरेदना। मार्बल की सीढ़ी को उस पर टिके अपने पांव को देखना - ये सब एक जमाना पहले होता था। मैं उसी जमाने की कल्पना लेकर सीढ़ियां चढ़ रहा हूं। रेलिंग पर हथेली टिकाता हुआ। रेलिंग की गर्द को अपनी हथेली में समेटता हुआ। जैसे गर्द दोस्त हो या कलीग! या जैसे गर्द के भीतर गए दिनों की यादें हों। या जैसे रेलिंग पर जमी गर्द खुद एक स्मृति हो।

रेलिंग पर हाथ रखकर मैं कुछ देर खड़ा सोचता रहा और याद करता रहा कि निंदाओं, तुच्छताओं, झूठ, अनबन की भी अपनी एक दुनिया थी। वो दुनिया कितना भ्रमित करती थी।

मैं इसलिए भी रुक गया हूं कि थोड़ा हांफने लगा था। पता नहीं मेरी सांसों को कैसे पता चला कि मैं सीढ़ियां चढ़ रहा हूं? उनका हांफना शुरू। मैं ठिठक गया। एस्थलीन इनहेलर भी घर रह गया। यही गलत हुआ। दफ्तर में, सर्विस के दौरान मैं इनहेलर

हमेशा जेब में रखता था। खुद को फिट और स्मार्ट नजर आने का मुझे जुनून था। कपड़े भी मैं शानदार पहनता था। शीशा तो कई-कई बार देखा।

लेकिन आत्ममुग्धता का वो फितूर जमीन पर आ गिरा है। कपड़े तो आज भी मैंने ठीक ठाक पहन रखे हैं, लेकिन पहले जैसा न आत्मविश्वास न शीशा देखने की इच्छा!

तीसरी मंजिल पर पहुंच कर मैं रुक सा गया हूं। यहीं कहीं दीवार पर मैंने अपना नाम लिखा था। तब जैल पेन नहीं थे। जॉटर पेन थे। उनकी लिखाई पक्की होती थी। इतनी पक्की कि मैं 'वी आर' लेकर घर चला गया हूं, जॉटर पेन से लिखा 'नाम' मुझे अब भी दिखाई दे रहा है। बेशक, स्याही धुंधला गई है।

वक्त के हाथ भी अजीब होते हैं। बेवजह हर शय को मिटाते-पोंछते चलते हैं - वो रास्ते पर पांव के निशान हों या फिर स्मारकों पर लिखी इबारतें। हर शय धुंधली पड़ जाती है और निशानियों में बदल जाती है।

वक्त की जटिलताएं जब प्रेम जैसे तत्व को जिंदगी से खारिज कर देती हैं तो प्रेम पत्र भी निशानियों में बदल जाते हैं।

मैं भी अजीब हूं। तीसरी मंजिल पर रेलिंग के सहारे खड़ा मैं न जाने किस दुनिया में जा पहुंचा हूं।

मैं दफ्तर के गेट के सामने खड़ा हूं। इस सोच में डूबा हूं कि शीशे का दरवाजा खोलूंगा और मेरे सब कलीग...मेरे सब पुराने सहकर्मी मुझे देखकर उठ खड़े होंगे। मेरे करीब आएंगे। मुझे घेर लेंगे। शोर सा मच जाएगा। सब इस कोशिश में होंगे कि मैं उनकी चाय पीऊं। उनकी मेज के साथ वाली कुर्सी पर बैठूं। सबकी कोशिश होगी कि ज्यादा से ज्यादा बातें करें। जैसे कि हम पहले किया करते थे - जेम क्लिप जैसी निकृष्ट वस्तु से लेकर मिसाइल तक पर हम बड़े बेतकल्लुफ अंदाज में बातें किया करते थे।

मैंने अपने बैग में चॉकलेट और बिस्कुट के कुछ पैकेट डाल लिए थे। एक छोटी-सी पार्टी और जश्न। और चाय और ठहाके।

मैं उत्साह के अतिरेक में हूं। कितने सारे खूबसूरत ख्याल बुनता हुआ मैं। जश्न मनाने से पहले का रोमांच मेरे मन में है। मैं सोच रहा हूं पुराना वक्त, पुराना माहौल फिर से जी उठेगा। एक महीना घर में रहा। अपने अकेलेपन से मुठभेड़ करता हूआ मैं। आज मैं अपने-आपको ताजादम ठहाकों के साथ बदल दूंगा।

■

मैंने दफ्तर का शीशेवाला दरवाजा खोला है। दरवाजे के पास खड़ा हूं। पूरे हाल में मैंने नजर दौड़ाई है। मैं भौंचक हूं, चकित! चकित या विचलित - पता नहीं। मैं अपने पुराने सहकर्मियों को देख रहा हूं। मुझे भी देखा है उन्होंने, शायद। सब व्यस्त हैं। इतने व्यस्त! इतने व्यस्त तो पहले कभी नज़र नहीं आए थे इस दफ्तर के एम्पलाई, जितने कि आज। जितने कि अब। कुछेक मुझे देख रहे हैं। देख चुके हैं। मुस्कराए हैं दूर से। बैठे हुए मुस्कराए हैं। कुछेक ने हाथ के इशारे से हेलो की है - वहां बैठे-बैठे।

तीस लोगों का स्टाफ और इकत्तीसवां मैं। मेरे और उनके बीच जैसे बिना पुल की कोई नदी। उस पार वो सब। इधर मैं। उधर व्यस्त लोग। इधर मैं खाली और व्यर्थ!

दरवाजे के पास खड़ा सोच रहा हूं कि मैं किसके पास जाऊं? किसके पास बैठूं? मुझे किसी ने नहीं बुलाया। कोई भी अपनी कुर्सी से उठकर, मुझसे हाथ मिलाने नहीं आया। क्या मैं खुद-ब-खुद चला जाऊं उनके पास। उनके पास जा बैठूं, बिन बुलाए मेहमान जैसा।

मैं देख रहा हूं सबके सब सहकर्मी इतने व्यस्त हैं जैसे इम्तिहान दे रहे हों। जैसे तीन घंटे के अंदर उन्होंने सैंकड़ों-हजारों सवालों के जवाब लिखने हों।

कुछेक ने मुझे अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे इस भाव से देखा है जैसे मैं अब उनका कलीग नहीं रहा। इंशोरैंस कराने वाला कोई क्लाइंट हूं।

अब मुझे महसूस हो गया है, एक दिन में दुनिया बेशक न बदलती हो, एक महीने में जरूर बदल जाती है।

मन करता है केबिन के भीतर बैठी आरती मैडम के पास चला जाऊं। वो चाय का आर्डर दे। एक बार फिर हमारी उंगलियों में झूलता टी-बैग हो।

मैं उसकी टेबल के सामने कुर्सी खींच कर बैठूं। और वो साधारण सा सवाल मेरे सामने उछाल दे कि कैसे आना हुआ दफ्तर? तो क्या जवाब दूंगा?

मैं हॉल में आगे नहीं जा पा रहा। किसी ने बुलाया नहीं तो किसके पास जाऊं? लेकिन मेरे लिए वापिस मुड़ना भी मुश्किल है। मैंने वापिस मुड़ने की कोशिश की है। पांव उठा नहीं। शर्म का या संकोच का या कशमकश का कोई कील, पांव में गड़ गया हो जैसे।

दफ्तर में सब यथावत! काम करते हुए। सब लोग शुष्क मैनुअल जैसे। या फिर सब लोग किसी लैपटॉप जैसे। ऐसा लगता है, दोस्ती के स्पेलिंग सब भूल चुके हैं। सबके पास समीकरणों की डायरैक्टरी है। काश, किसी के पास स्मृतियों की डायरी भी होती।

मैं खड़े-खड़े सोच रहा हूं - क्या सचमुच लोग डोर क्लोज़र बन चुके हैं या फिर दरवाजों को खुला रखने की तौफीक भूल चुके हैं।

1875, सैक्टर-6, बहादुरगढ़-124507 (हरियाणा)-09813491654

'प्रेमकथा एहि भांति बिचारहु'

दलित प्रेम का आशय

बजरंग बिहारी तिवारी

प्रेम की सामर्थ्य देखनी हो तो संतों का स्मरण करना चाहिए। संतों में विशेषकर रविदास का। प्रेम की ऐसी बहुआयामी संकल्पना समय से बहुत आगे है। उनके समकालीनों में वैसा कोई नहीं दिखता। आधुनिक आलोचक भी उस प्रेम के समग्र स्वरूप को समझने में चूके। उसके मर्म तक पहुँच नहीं सके। प्रखर प्रेमाभा में आसानी से दृश्यमान एक-दो चीजों को देखकर उसे ही सब कुछ समझ लिया। आगे नहीं बढ़े। जो देखा उसी के दूसरे पहलू पर दृष्टि नहीं गई। मसलन रविदास की विनम्रता चर्चा में रही। इस विनम्रता को नख-दन्त-विहीन अबोध लचीलापन समझ लिया गया। जितनी विनम्रता उतनी दृढ़ता। मृदुभाषी मगर सत्याग्रही। मितभाषी किंतु एक-एक शब्द वजनदार। जिनकी बानी की मधुरता तिक्त औषधि पर मीठे लेपन की तरह है। ठीक बौद्ध महाकवि अश्वघोष के कथनानुरूप- "पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृदयं कथं स्यादिति।" ऐसी ही उदग्र 'मधुवाणी' वाला कवि डंके की चोट पर कह सकता है- 'साधो का सास्त्रन सुनि कीजै।' जो सभी धर्मग्रंथों को समान रूप से असहज पाता है- 'बेद-कतेब, कुरान-पुराननि सहजि एक नहिं देखा।' इसीलिए उसका सुझाव है- 'थोथो जिनि पछोरो रे कोई। पछोरो जामे निज कन होई।।' 'निज कन' अर्थपूर्ण पद है। यह अन्न कण तो है ही, निजत्व का, आत्म का संकेतक भी है। जिस दर्पण में अपना चेहरा न दिखाई दे वह दर्पण किस काम का! जिस वाङ्मय में स्वानुभव (निज कन) न हो वह थोथा ही है। इस 'निज कन' की प्रतीति कैसे हो? ज्ञान से? ध्यान से? मगर ज्ञान-ध्यान तो अबूझ भी हो सकते हैं? किस पर भरोसा कर., किससे अबूझ का अर्थ बूझ.? संत रैदास का समाधान है कि प्रेम ही वह माध्यम है जो इस उलझाव से निकाल सकता है। प्रेम रस ही 'निज कन' की प्रतीति करा सकता है-

ज्ञान ध्यान सबही हम जान्यो, बूझों कौन सों जाई।
हम जान्यो प्रेम प्रेमरस जाने, नौ बिधि भगति कराई।।

वर्ण-जाति मनुष्य से उसका स्वत्व, निजत्व छीन लेते हैं। इसके बदले में वे जो पहचान देते हैं वह आत्महीनता को ढकने का काम करती है। अपने 'होने' का बोध ही असंभव बनाती है। ऐसे मरुस्थल में लाके छोड़ती है जहां प्यासे ही मरना है। रैदास को मालूम है कि वर्ण-जाति के जंजाल से पार पाने की पद्धतियाँ उनके पूर्ववर्तियों ने अपने-अपने ढंग से खोजी हैं। उनके समकालीन भी अपने-अपने तरीके से ऐसी पद्धति तलाश रहे हैं। वे इन पद्धतियों की सफलता और सीमा से परिचित भी हैं। वर्णवादी हिंसा से निपटने के लिए प्रतिहिंसा का सहारा लिया जाता है। जातिवादी मानसिकता जो ओछापन थोपती है उसकी प्रतिक्रिया में आक्रामकता को ढाल बनाया जाता है। यह प्रतिहिंसा और आक्रामकता मुख्यतः भाषा में अभिव्यक्त होती है। इसके व्यवहर्ता को एकबारगी ऐसा लग सकता है कि उसने जातिवादी प्रतिपक्षी को उसी के असलहों से परास्त कर दिया है। वस्तुतः होता इसके विपरीत है। प्रतिहिंसा और आक्रामकता जातिवाद की खुराक है। इसी खुराक के दम पर वह अपने को बनाए-बचाए रखती है। यह स्थिति उसके विरोधी को हताश उदास बनाती है। उसे अपना संघर्ष संदिग्ध लगने लगता है। ऐसे संघर्ष को उम्मीदभरी नज़रों से देखने वाला जनसमुदाय वर्ण-जाति की 'सनातनता' के दावे के समक्ष आत्मसमर्पण करने लगता है। इससे प्रभुत्व की संरचना को नवजीवन मिलता है। यह गुत्थी सबकी समझ में नहीं आती। समूचे मध्यकाल में संभवतः रविदास ही अकेले ऐसे चिंतक-रचनाकार हैं जो वर्ण-जाति के नैरन्तर्य की यह पहेली बूझते हैं। वही अकेले संत हैं जो इस संरचना के उन्मूलन में प्रेम की भूमिका समझते हैं। वे प्रत्याक्रमण से उपजी उदासी को, प्रतिहिंसा के विषण्ण उत्पाद को चीन्हते हैं। उनकी प्रेम में डूबी भक्ति भ्रम-पाश का उच्छेद इसीलिए कर पाती है-

अनेक जतन करि टारिये, टारे न टरै भ्रम पास।
प्रेम भगति नहिं ऊपजै, ताते जन रैदास उदास ।।

रविदास की साधना-पद्धति में प्रेम को उच्च स्थान मिला हुआ है। इसे अष्टांग साधना कहा जाता है। गुरु-परंपरा-क्रम से प्राप्त आठ अंगों वाली इस साधना में शुरू के तीन वाह्य अंग है, बाद के तीन भीतरी अंग हैं और अंतिम दो उच्चतम अवस्था या पूर्ण संतावस्था के- 1- गृह, 2 - सेवा, 3- संत, 4-नाम, 5-ध्यान, 6-प्रणति, 7-प्रेम और 8-विलय। रविदास की बानियों में जो विनम्रता व्याप्त है वह प्रेम की इसी केन्द्रीयता के चलते। उनकी

उदात्तता का यही हेतु है। प्रेम उनके यहाँ साधन से बढ़कर है। यह पूर्णता का पर्याय है। स्नेहपूरित भाषा का सिद्ध प्रयोक्ता कवि जानता है कि मनुष्य के अंतरतम तक कैसे पहुंचा जा सकता है। और, यह भी कि कैसे मूल्यवान कथ्य तिक्त भाषा की संगति पाकर उल्टा असर कर देता है-

मूरिख मुख कमान है, कटुक बचन भयो तीर।
सांचरी मारे कान महि, साले सगल सरीर।।

कबीर साहब अगर रविदास को सच्चे मार्ग का पता बताने वाला कहते हैं तो इस कथन के गूढ़ार्थ पर ध्यान जाना चाहिए। अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए कबीर ने उन्ह. 'संतनि में रविदास संत हैं' कहा। 'भक्तमाल' में नाभादास ने लिखा है कि रविदास के चरणों की धूलि की वंदना लोग अपने वर्णाश्रमादि का अभिमान त्याग कर भी किया करते थे। रविदास की विमल वाणी संदेह की गुत्थियों को सुलझाने में परम सहायक है। स्वयं रविदास का साक्ष्य है- 'अब बिप्र परधान तिहि करहि डंडउति' (-इस रविदास को अब मुखिया ब्राह्मण भी दंडवत करते हैं।)

संत रविदास के प्रेम का वैशिष्ट्य क्या है? इस प्रेम की अवधारणा में अन्तर्निहित तत्व कौन-से हैं? इस प्रेम की क्रियाशीलता कैसी है जिससे संदेह दूर होता है और मति निर्मल हो जाती है? रविदास के रचनाजगत में प्रेम एक विराट भाव है। उसके सभी अंगों-उपांगों को एक साथ देख पाना सरल नहीं है। जैसे जाति की जटिलता को समझ पाना मुश्किल है वैसे इस जटिलता को हटाने वाले प्रेम के तंतुओं को एक संश्लिष्ट इकाई के तौर पर अनुभूत करना कठिन है। जाति के रहते एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से जुड़ नहीं सकता- 'रैदास न मानुष जुड़ सके जौ लौं जात न जात।' अगर प्रेम को जोड़ने का दायित्व निभाना है तो उसकी कतिपय पूर्वशर्त. और पश्चात अपेक्षाएं होंगीं। रविदास की प्रेम संकल्पना का वितान फिर इस तरह बनता दिखाई देता है-

प्रेम के लिए स्वाधीनता अनिवार्य पूर्वशर्त है। पराधीन पर दया की जा सकती है, प्रेम नहीं किया जा सकता। प्रेम दो (या दो से अधिक) स्वाधीन लोगों के बीच ही हो सकता है। प्रेम पाना है तो स्वाधीन होना पड़ेगा। प्रेम करना है तो पहले स्वतंत्रता का वरण करना होगा। जाति व्यवस्था पराधीन बनाने वाली व्यवस्था है। जाति से मुक्ति पराधीनता से मुक्ति है। पराधीनता से छुटकारा प्रेम का पथ प्रशस्त करता है। परतंत्र व्यक्ति अपने जाति-बाड़े में कैद होता है। न वह किसी से उन्मुक्त होकर मिल पाता है और न ही प्रेम करने या पाने की सोच पाता है। जिस समाज में दो व्यक्तियों का आपसी परिचय एक दूसरे की जाति जानने की बाध्यता से शुरू होता हो वहां खालिस मनुष्य-मनुष्य के रूप में पारस्परिक भरोसा कैसे पैदा होगा? इस भरोसे या प्रतीति के अभाव में प्रीति पनपेगी कैसे! पाप पुण्य जैसे पारंपरिक प्रत्ययों को अप्रत्याशित परंतु परम प्रभावशाली-गौरवपूर्ण अर्थ देते हुए संत रविदास कहते हैं-

पराधीनता पाप है जानि लेहु रे मीत।
रैदास दास पराधीन सों कौन करे है प्रीत।।

मेरी सीमित जानकारी में समूचे आदिकाल और मध्यकाल में स्वाधीन पराधीन जैसे पदों का इस अर्थ में प्रयोग अपवाद स्वरूप ही हुआ है। 'मीत' संबोधन में निहित व्यंजकता गौर करने लायक है। यह कवि के लैंगिक रूप से संवेदनशील होने का प्रमाण है। प्रीति और पराधीनता का सहभाव संभव नहीं। इस तथ्य को अधीनस्थ तबकों से बेहतर कौन समझ सकता है? दलित और स्त्री

बसाऊ राम की रागनी

करके एकता बात करो सब इकलास की
सारे मिले जय बोलो संत रविदास की

माह की पूर्णमासी 1433 में जन्में थे आप
करमा देवी माता थी रघुजी थे बाप
लोना देवी धर्मपत्नी करे भक्ति के जाप
रामानंद की सेवा करके सिख लिये जप ताप
कबीर भगत बने गुरु माई थी झोंपड़ी घास की

दिन रात करे थे भक्ति कुछ घर का क्लेश
बड़े-बड़े हार मानगे हाथ जोड़े काशी नरेश
नवजागरण का काम किया दिया ज्ञान संदेश
जात-पात, अंधविश्वास का सच्चा दिया उपदेश
जनमानस के मन में बसगे, चाहना अभिलाष की।

समाज सुधार का के काम किए, गाए शुद्ध भजन
सब धर्मों का आदर करते, सुनते थे सभी सजन
ऐसा चाहूं राज मैं मिले सबको अन्न
अमीर-गरीब सम-सभ बसें रविदास रहे प्रसन्न
मन चंगा, कटौती में गंगा, बाणी विश्वास की।

बसाऊ राम जगह-जगह पर सच्चा दिया था ज्ञान तनै
राणा-सांगा ने चितौड़ बुलाया देख्या राजस्थान तनै
मीराबाई बनी चेली खूब किया गुणगान तनै
1584 चितौड़ किले में त्याग दिए थे प्राण तनै
संत शिरोमणी कहलाये, बात इतिहास की

सम्पर्कः **94671-37847**

ऐसे ही तबके हैं। जाति के नियम गैर अधीनस्थ तबकों को ही कहाँ बख्शत. हैं! वे अपने से नीचे वालों का दोहन कर सकते हैं, उन पर अपनी इच्छा लाद सकते हैं मगर प्रेम नहीं कर सकते। गैर बराबरी यह संभव नहीं होने देगी। पराधीनता में प्रेम का अवकाश नहीं बनेगा। पराधीन व्यक्ति हीन समझा जाता है। हीनता में पड़े हुए को कोई प्रेम नहीं करता। धर्माचरण या सदाचरण स्वार्तय का अनुगामी है। जिसे स्वतंत्रता ही नहीं हासिल है उसके लिए सदाचरण का प्रश्न बेमानी है-

पराधीन को दीन क्या, पराधीन बेदीन।
रैदास दास पराधीन को, सबहीं समझै हीन।।

कबीर के यहाँ प्रेम पर पर्याप्त बल है लेकिन प्रेम और स्वाधीनता के अंतःसंबंध पर ख़ामोशी है। तुलसीदास के यहाँ पराधीनता की चर्चा है और ठीक उस अर्थ में जो रविदास को अभीष्ट है। पराधीन को सुख नहीं मिलता। ऐसा तुलसी अपने एक स्त्री पात्र से कहलवाते हैं। एक वर्ग के रूप में नारी इसीलिए सुख से वंचित है क्योंकि वह पराधीन है- "कत बिधि सृजी नारि जग मांहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।।" सुख का स्रोत है प्रेम यह समझ उस समय के रचनाकारों में है। मंझन रचित प्रबंध 'मधुमालती' की पहली पंक्ति है- 'प्रेम प्रीति सुखनिधि के दाता।' पराधीनता-अप्रीति-असदाचरण-दुख की श्रृंखला का विवेक रविदास देते हैं। तुलसी अपने पराधीनता वाले प्रसंग के लिए रविदास के ऋणी हैं। स्त्री पराधीनता का मुद्दा रेखांकित करने के लिए तुलसी की उचित प्रशंसा करने वाले विद्वान इस विचार के स्रोत की तरफ ध्यान नहीं देते। वे कभी नहीं बताते कि पराधीनता का यह प्रश्न पहले रविदास ने उठाया था। लोक में यह समझदारी है। वह रविदास के प्रति तुलसी की श्रद्धा जाहिर करने के लिए कथा गढ़ लेती है। इस कथा के अनुसार गुरु की तलाश में मीरां ने तुलसीदास से संपर्क किया था। अपनी तजबीज के अनुरूप तुलसी ने रविदास को गुरु बनाने की सलाह दी थी। मीरां ने उनकी सलाह पर अमल भी किया था।

दासता को जन्म देने वाले कारणों की आलोचना होनी चाहिए। जिसे दासता की जंजीरों में जकड़ दिया गया है, उसकी निंदा क्योंकर की जाए? रविदास में यह विरल विवेक है। वे इसीलिए नारी-निंदा में प्रवृत्त नहीं होते। मीरां के सामने और भी विकल्प थे मगर उन्होंने रविदास को ही अपना दीक्षा गुरु चुना। यह चुनाव अनायास नहीं है। भक्ति कविता के अध्येताओं को यह जांचना चाहिए कि सगुण (कृष्ण) भक्त मीरां जब अपने परवर्ती काल में रामभक्ति धारा से जुड़ती हैं तो उनकी कविता की अंतर्वस्तु में क्या फर्क आता है। मीरां की अंतर्मुखी आत्मक.द्रित कविता यदि जीवन-जगत के सरोकारों से बाद के दिनों में थोड़ा जुड़ती है तो इसका कुछ श्रेय उनके दीक्षा गुरु को जाता है। मीरां ने खुले मन से गुरु के प्रति, उनका नाम लेकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है- "गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी।" तथा "रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी"। अगर रविदास स्त्री को कमतर मानने वाले कवि होते, उनके यहाँ स्त्री अवमानना की अभिव्यक्तियाँ होतीं तो मीरां जैसी स्वाधीनचेता स्त्री उनकी शिष्या हरगिज न बनती। उनकी शिष्याओं में एक 'झालीरानी' का भी उल्लेख मिलता है। इस तरह और भी बहुत-सी स्त्रियां संत रविदास को अपना गुरु, प्रेरणास्रोत मानती होंगी। साक्ष्य न होने से हम सिर्फ अनुमान कर सकते हैं। इस अनुमान को लोकमत का पुख्ता आधार प्राप्त है। रविदास के चिंतन का स्वरूप लोकमत का निर्माता है।

संत रविदास अगोचर रहस्य में ज्यादा नहीं रमते। कुण्डलिनी जागरण में उनकी रुचि नहीं प्रतीत होती। सहस्रार चक्र के वेधन में उनकी साधना नहीं लगती। इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना-अनहदनाद जैसी शब्दमाला उनके यहाँ बमुश्किल व्यवहृत होती है। शून्य शिखर पर विराजने की उनकी मंशा शायद नहीं थी। उनका चिंतन शास्त्रवाद से छुटकारा दिलाना चाहता है। एक शास्त्रवाद से निकलकर दूसरे शास्त्रवाद में चले जाने से वे बचते हैं। अमूर्त अगम में विचरने की बजाए वे ठेठ दुनियावी मसले उठाते हैं। वे भूख की समस्या से टकराते हैं। भूख और दरिद्रता स्वाधीनता के लिए संकट है। स्वाधीनता का अभाव प्रेम की गुंजाइश ख़तम करता है। प्रेम भाव की कविता लिखने वाला कवि उस भौतिक परिवेश की भी परवाह करता है जिसमें यह भाव मुमकिन है। वह इसीलिए राजनीति का भी स्पर्श करता है। प्रजा को अन्न उपलब्ध कराना राज्य का जिम्मा है, ऐसी मान्यता निम्न दोहे से ध्वनित होती है-

ऐसा चाहूँ राज मैं मिले सबन को अन्न ।
छोट बड़ो सभ संग बसैं रैदास रहै प्रसन्न।।

बाद के दिनों में तुलसीदास ने भुखमरी को कर्मफलवाद से अलग रखकर उसे राजसत्ता का दायित्व बताया। उनके 'पाइ सुराज सुदेस सुखारी', 'सुखी प्रजा जिमि पाइ सुनाजा' जैसे कथनों में रविदास के उक्त सरोकार की अनुगूंज है। लेकिन एक महत्वपूर्ण बिंदु पर रविदास बहुत आगे दिखते हैं। यह है श्रम के महत्त्व का रेखांकन। स्वावलंबन स्वाधीनता के लिए अपरिहार्य है और और स्वावलंबन श्रम के बल पर निर्मित होता है। बेहद संवेदनशील स्वर में रविदास सलाह देते हैं- 'रैदास स्रम करि खाइए जौ लौं पार बसाय।' सुख-चैन ही स्वाधीनता है। यह श्रम के दम पर सुनिश्चित की जाती है। श्रम ही नेक कमाई का साधन है। बंगाल में दलितों के महानायक, मतुआ धर्म के संस्थापक श्री श्री हरिचांद ठाकुर ने

नारा दिया था- 'हाथे काम, मुखे नाम।' श्रम करते हुए नाम स्मरण करना चाहिए। रविदास बहुत पहले कह चुके थे- 'जिह्वा सों ओंकार जप, हत्थन सों कर वार।' हाथ चलाते हुए ओंकार जपो। महात्मा गांधी सत्य को ईश्वर कहते थे। रविदास उनसे कहीं ज्यादा ठोस और क्रांतिकारी प्रस्ताव करते हैं। वे श्रम को ईश्वर बताते हैं। इसे संभवतः पूर्व-आधुनिक युग की कम्युनिस्ट वैचारिकी कहा जा सकता है-

स्रम को ईसर जानि कै जउ पूजहिं दिन रैन ।
रैदास तिनहिं संसार में सदा मिलहिं सुख चैन ।।

इस संक्षिप्त विवेचन से अंदाज लगाया जा सकता है कि रैदास की प्रेम परिकल्पना कितने व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित है। पराधीनता और दारिद्रय निवारण पर बल देकर वे इसे समस्त मानवता के लिए मूल्यवान बना देते हैं। स्त्री की अवमानना करने वाली अभिव्यक्तियों से वे सचेत रूप से बचते हैं। इड़ा-पिंगला के शास्त्रवाद में नहीं उलझते। राजसत्ता के दायित्व का संज्ञान लेते हैं। श्रम और स्वावलंबन के रिश्ते पर रोशनी डालते हैं तथा श्रम की सर्वोपरिता रेखांकित करते हैं। सदाचार ही उनके यहाँ जीवनमूल्य है। नैतिकता को वे कर्मकांड का स्थानापन्न बनाते हैं। क्रोध और विनय के संतुलन पर उनकी दो-टूक असहमतियां प्रकट होती हैं। इसी का सुफल है कि ब्राह्मण सहित सभी सवर्ण उनकी शरण में जाते हैं। तमाम आचार्यों और संतों को दरकिनार कर मीरां जैसी प्रबुद्ध स्त्रियां उनकी शिष्या बनती हैं।

इन तमाम तथ्यों और ब्योरों के समेकित परिप्रेक्ष्य में उनकी इस स्वीकारोक्ति को समझना चाहिए- 'हम जानौ प्रेम, प्रेम रस जाने'। इस उद्घोषणा की प्रतिध्वनि विलक्षण रूप से मार्टिन लूथर किंग जूनियर (1929-1968) के इस कथन में सुनाई पड़ती है- "आइ हैव डिसाइडेड टू लव" मैंने प्रेम करने का फैसला किया है। संयुक्त राज्य अमरीका में ब्लैक समुदाय के मानवाधिकारों की प्राप्ति के लिए शुरू हुए सिविल राइट्स मूवमेंट (1955-1967) के अग्रणी नेता किंग ने स्पष्ट रूप से कहा कि प्रेम के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर खड़ी क्रांति विफल होगी। किंग के इस अहिंसक आंदोलन में तमाम उदार मत वाले गैर ब्लैक/व्हाइट विचारक, कार्यकर्ता भी शामिल हुए। यह आंदोलन सफल रहा। इसने क़ानून से समान सुरक्षा का अधिकार दिलाया, ब्लैक पुरुषों को मताधिकार मिला और दास प्रथा उन्मूलन की प्रक्रिया संपन्न हुई। ब्लैक स्त्रीवादी विचारक बेल हूक्स (1951) का मानना है कि अमरीका का सिविल राइट्स मूवमेंट इसलिए समाज को बदल सका क्योंकि यह मूलतः प्रेम की नैतिकता पर टिका था। इस आंदोलन के अगुआ मानते थे कि प्रेम के जरिए ही अधिकतम भलाई हासिल की जा सकती है। प्रेमाधारित अहिंसक आंदोलन ने पूरे (अमरीकी)

बेगमपुरा सहर को नाउ।
दुखु अंदोहु नहीं तिहि ठाउ।
नां तसवीस खिराजु न मालु।
खउफु न खता न तरसु जवालु।।
अब मोहि खूब वतन गह पाई।
ऊहां खैरि सदा मेरे भाई। (रहाउ)
काइमु दाइमु सदा पातिसाही।
दोम न सेम एक सो आही।
आबादानु सदा मसहूर।
ऊहां गनी बसहि मामूर।।
तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै।
महरम महल न को अटकावै।
कहि रविदास खलास चमारा।
जो हम सहरी सु मीतु हमारा।।
रविदास

समाज की मनुष्यता जागृत करने का लक्ष्य अपने सामने रखा। आंदोलन की प्रकृति सुधारवादी रही। मार्टिन लूथर किंग जूनियर की हत्या और इस आंदोलन के अन्य नेताओं की मृत्यु के साथ गहमागहमी से भरे एक युग का अंत हुआ। उनके समानधर्मा, सहयोगी श्वेत लोग भी दिवंगत हुए। समूचे परिवेश में एक नैराश्य व्याप्त हो गया। इस दौरान ब्लैक आंदोलनकारियों, बुद्धिजीवियों की नई पीढ़ी तैयार हो चुकी थी। इस पीढ़ी ने सुधारवादी आंदोलन से अपने को अलगाया और नए आंदोलन की शुरुआत की। यह क्रांतिकारी आंदोलन था। इसका मकसद मानवता का जागरण नहीं, ब्लैक समुदाय को पुरजोर आक्रामक तरीके से खड़ा करना था। यह 'शक्ति' क.द्रित आंदोलन था। इसे 'ब्लैक पॉवर मूवमेंट' कहा जाता है। इस आंदोलन को चलाने वाली युवा पीढ़ी साध्य-वादी थी। साधन की परवाह न करने वाली। इसका अनुभव जगत श्वेत समाज की नृशंसताओं से भरा था। इसकी स्मृतियों की दुनिया श्वेत प्रभुओं की क्रूरताओं से लबालब थी। अहिंसक मार्ग में यह साठोत्तरी पीढ़ी यकीन नहीं करती थी। उसे इंकलाब चाहिए था। इसने पूरे अमरीकी समाज को झकझोर कर रख दिया। इसकी उपलब्धियां ऐतिहासिक रहीं - चेतना के स्तर पर और कानून निर्माण के स्तर पर। लगभग दो दशक इसकी सक्रियता के रहे। इसके उपरांत ब्लैक स्त्रीवाद का उभार हुआ। इस नए आंदोलन ने पूर्ववर्ती आंदोलन की समीक्षा की। इसने रेखांकित किया कि

सुधारवादी होने के कारण सिविल राइट्स मूवमेंट भले ही कई मामलों में बहुत सीमित रहा हो फिर भी उसमें व्यापक जनसमुदाय को प्रेरित करने की क्षमता थी क्योंकि वह गहरे में प्रेम नैतिकता पर अवस्थित था। दूसरी तरफ ब्लैक पॉवर मूवमेंट ने मुक्ति संघर्ष को सुधार से क्रांति की तरफ ला दिया। यह एक उल्लेखनीय राजनीतिक विकास था। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद विरोध का स्वरूप रेडिकल हुआ। इस विरोध का एक वैश्विक परिप्रेक्ष्य इसी दौर में निर्मित हुआ। इन ऐतिहासिक उपलब्धियों के साथ यह भी सच है कि इस आंदोलन के नेतृत्व में पुंसवादी लैंगिक पूर्वाग्रह गहरे में व्याप्त थे। इन पूर्वाग्रहों ने प्रेमभाव को कुचला। इस आंदोलन के सारे लीडर पुरुष थे। पुरुषवादी भी। वे रेसिज्म के सख्त खिलाफ थे लेकिन स्त्रियों की यौन दासता के समर्थक थे। मर्दवादी आक्रामकता प्रेम को दुर्बलता से समीकृत करती थी। यह प्रभुत्व के उन्हीं उपकरणों का इस्तेमाल कर रही थी जो परंपरा से उसके ऊपर व्यवहृत होते आए थे।

भारतीय दलित आंदोलन के प्रसंग में यह प्रश्न विचारणीय है कि आंबेडकर के आंदोलन में स्त्रियों की जो बड़े पैमाने पर भागीदारी थी वह उनके बाद उभरे पैंथर आंदोलन में सिमट क्यों गई। क्या यहाँ भी पुरुषवादी मानसिकता ने आंदोलन को अपनी गिरफ्त में ले लिया? यह अनुमान निराधार नहीं है। पैंथर आंदोलन की उपलब्धियों को किसी भी तरह कमतर आंकने से बचकर यह तो कहा ही जा सकता है इसके नेतृत्व में स्त्री के प्रति अपेक्षित संवेदनशीलता नहीं थी। उसके लैंगिक पूर्वाग्रह जगह-जगह देखे जा सकते हैं। इस आंदोलन के एक सर्वमान्य हस्ताक्षर नामदेव ढसाल की कुछ काव्य पंक्तियां उदाहरण के लिए उद्धृत की जा सकती हैं-

1) इस धमनी का रिदम जरा सुनो तो, / संभव है तुम्हारे बंध्या गर्भ से अंकुर फूटे। ('जनरल वार्ड')

2) इस विधवा मराठी भाषा को,/ फिर से सुहागिन होते हुए देखना है मुझे। ('रमाबाई आंबेडकर')

3) हम जिंदा हुए हैं/ तुम्हारे पापों का छिनाल घड़ा फोड़ने के लिए। ('अँधेरे ने सूर्य देखा तब')

आंबेडकर के बाद उभरी गुस्सैल युवा पीढ़ी की ऐसी अभिव्यक्तियों और पूर्वाग्रहों ने दलित स्त्रियों को आंदोलन से विलग करने का काम किया। पैंथर आंदोलन के निर्माण के बाद दलित स्त्रियों की संगठित आवाज उभरने में लगभग तीन दशक लगे। दलित स्त्रीवाद अपने साथ कई छूटे हुए मुद्दे लेकर आया। प्रेमपरक नैतिकता की आंदोलन में वापसी हुई। मुक्ति आंदोलन सार्वजनीन, समावेशी, बहुकोणीय हुआ। कार्यसूची में प्रेम के प्रवेश से क्रांति की धार कतई कुंठित नहीं हुई। सुधार आंदोलन, जागृति युग और क्रांतिकाल के श्रेष्ठ तत्वों का सम्मिलन दलित स्त्री आंदोलन ने किया। संत रविदास और बाबा साहेब आंबेडकर के योगदान को नए सिरे से समझने का माहौल भी तभी बना।

सम्पर्कः **09868261895**

लघुकथा

राधेश्याम भारतीय

यक्षप्रश्न

गांव में रघबीर की घुड़चढ़ी हो रही थी। जब वे मंदिर के पास पहुंचे तो गांव के कुछ मनचले सवर्ण जाति के लड़कों ने उसे घोड़ी से उतार लिया और घोड़ी को भगा दिया।

दलितों ने उनका विरोध किया, तो सवर्णों ने अपनी धोंस दिखाने के लिए उनकी धुनाई कर डाली।

दलित अब पहले वाले दलित तो रहे नहीं कि अपमान का घूंट पीकर चुपचाप घर बैठ जाते। मैडिकल करवाकर उनके विरुद्ध केस दर्ज करा दिया।

पुलिस उन्हें गिरफ्तार करने घर पहुंची, तो उनकी चौंध टूटी। वे यह भी जानते थे कि जो अपराध उन्होंने किया है इसमें कई साल के लिए जेल जाना पड़ सकता है।

सवर्णों की बैठकें होने लगी और दलितों से माफी मांगने लगे, कहने लगे - बच्चे हैं, गलतियां कर देते हैं। अतः इन्हें माफ कर दो। पर, दलित टस से मस नहीं हुए।

एक दिन गांव में बहुत बड़ी पंचायत हुई। रघबीर पर समझौते के लिए दबाव बनाया गया। रघबीर खड़ा हुआ और कहने लगा, 'मैं समझौता कर सकता हूं, पहले यहां बैठे सभी बुद्धिजीवी बुजुर्ग मेरे एक प्रश्न का उत्तर देवें। पहले मुझे मेरा कसूर बताएं?'

पंचायत में मूर्छा-सी छा गई। किसी के पास उसके प्रश्न का कोई उत्तर न था।

खिलवाड़

गांव में एक घर की छत ढहने से परिवार के चार सदस्यों की मौके पर ही मौत हो गई। हादसा इतना दर्दनाक था कि देखने वालों की रूह कांप गई। बड़ी मुश्किल से लाशों को बाहर निकाला गया। बात जंगल की आग की भांति पूरे इलाके में फैल गई। हर कोई उस घर की ओर दौड़ पड़ा। पर सब बेबस।

'गरीबी भी शाप है मास्टर जी। बेचारे एक छत पक्की न करा सके।' एक बुजुर्ग ने मास्टर रामप्रकाश को कहा। 'महंगाई किसी को उठने दे तब ना। लील गई हंसती खेलती चार जिंदगियों को।' मास्टर जी ने बुजुर्ग की बात को आगे बढ़ाया।

शाम को एक साथ चार लाशें जली। पूरा गांव शोक के सागर में डूबा था।

मास्टर जी घर आए तो निगाह अखबार पर पड़ गई। पहले ही पन्ने पर एक नेताजी का बयान था कि हम देश से भ्रष्टाचार, महंगाई आदि को जड़ से खत्म कर देंगे। हम जनता से किए हर वायदे को पूरा करेंगे। हर घर को छत देंगे।

मास्टर जी ने क्रोध में आकर अखबार वहां से उठाकर कोने में फैंक मारा।

सम्पर्क : 09315382236

परिचर्चा

ज्ञान-पश्चिम-औपनिवेशिकता

अमनदीप वशिष्ठ

भारत लगभग दो सौ साल तक अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन रहा। साम्राज्यवाद ने भारत के प्राकृतिक-भौतिक संसाधनों का केवल दोहन ही नहीं किया, बल्कि सांस्कृतिक वर्चस्व कायम करके दिमागों और आत्मा को गुलाम बनाने की कोशिश की। ज्ञान-विज्ञान व विचारों की प्रकृति वैश्विक होती है, लेकिन साम्राज्यवाद ने शिक्षा, पाठ्यचर्या के माध्यम से उपनिवेशों के नागरिकों में हीनता पैदा करने के लिए ज्ञान को हथियार की तरह प्रयोग किया। अपनी उपलब्धियों को श्रेष्ठ-अनुकरणीय, आधुनिक-प्रगतिशील बताया तो उपनिवेशों की उपलब्धियों को हेय व पिछड़ा। इसकी प्रतिक्रिया भी हुई उससे राष्ट्रवादी विचारधारा के साथ पुनरूत्थानवादी धारा भी पनपी जो उसी तरह से अपनी भाषा व संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ व अनुकरणीय मानती थी। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान भारतीय बौद्धिक जगत में गहरे संघर्ष, बेचैनी व जद्दोजहद थी। 1947 में भारत राजनीतिक तौर पर तो आजाद हो गया, लेकिन साम्राज्यवाद ज्ञान की प्रणालियों-पद्धतियों में इतने गहरे तक घुसा हुआ है कि कई बार उसका अहसास भी नहीं होता। साम्राज्यवाद हमारे ज्ञान, शिक्षा, संस्कृति बोध किस प्रभावित कर रहा है, इस विषय पर परिचर्चा के लिए पिछले अंक में कृष्ण कुमार के आलेख **'औपनिवेशक दासता का ज्ञान-काण्ड'** सहमति-असहमति पर टिप्पणी-प्रतिक्रिया अथवा इस विषय के दूसरे पहलुओं पर आलेख आंमत्रित किए थे। इस अंक में अमनदीप वशिष्ठ का आलेख प्रकाशित कर रहे हैं। - सम्पादक

जब हम 'औपनिवेशिक काल' की बात करते हैं, तो एक ऐसा चित्र बनता है, जिसमें समस्त राजनीतिक क्रिया-कलाप, सामाजिक जन जीवन, सांस्कृतिक प्रक्रियाएं और ज्ञान-परम्परा अपनी सहज स्वायत्त गति छोड़ कर किसी विचित्र तनाव से गुजर रहे हैं। इस तनाव को हम कैसे देखें और समझें? विशेष रूप से इस तनाव को जो हमारी ज्ञान परम्परा के भीतर तक प्रवेश कर गया था और आज भी महसूस किया जाता है। अंग्रेजों का भारत आने के बाद हम पर क्या प्रभाव रहा है? क्या जो 'औपनिवेशिक प्रभाव' हम पर पड़ा, उसे हमने पूरी तरह विश्लेषित कर लिया है?

जब हम भारत पर अंग्रेजी शासन के प्रभाव की बात करते हैं तो एक विचार पर करीब-करीब पूर्ण सहमति हो ही जाती है। वह ये कि अंग्रेजों ने भारत में जो ज्ञान-परम्परा स्थापित की, वो यूरोपीय सांचे में ढली हुई थी और भारत के अपने 'इतिहास-दर्शन-ज्ञान' को अनदेखा करती थी। यहां तक तो सारी बात एक 'आम राय' के रूप में ठीक-ठाक चलती है। समस्या तब शुरू होती है, जब हम ब्रिटिश काल के पूरे ज्ञान-विज्ञान के ढांचे को रेशा-रेशा करके देखना आरंभ करते हैं। जब हम इस पूरी प्रक्रिया के अंदर उतरते हैं तो पाते हैं कि ब्रिटिश-ज्ञान-दृष्टि को पूरे यूरोपीय संदर्भ से अलग नहीं देखा जा सकता। चूंकि ब्रिटेन आखिरकार यूरोपीय उथल-पुथल से अलग नहीं था। अंग्रेज शासक खुद अपने-आप में भी क्या अंतर्विरोधों से भरा हुआ नहीं है? वह एक तरफ फ्रेंच क्रांति के उदात्त मूल्यों से भी परिचित है, उस पर यूरोपीय पुनर्जागरण का भी प्रभाव है और दूसरी तरफ उसमें नस्लीय घृणा, श्रेष्ठ होने का अहंकार तथा औपनिवेशिक शोषण की क्रूरता भी मौजूद है। इस पूरी चर्चा को ब्रिटेन से होते हुए सम्पूर्ण यूरोप की आलोचनात्मक समझ तक ले जाना होगा।

एक ओर कुछ ब्रिटिश अफसर 'एशियाटिक सोसायटी' जैसी संस्थाएं बना रहे थे। 1784 में बनी 'एशियाटिक सोसायटी' ने हजारों ग्रंथ इकट्ठे किए, संस्कृत-फारसी-अरबी में लिखी किताबों का अनुवाद करवाया। कितने ही प्राचीन सिक्के, पांडुलिपियां, ताम्रपत्र, चित्र और ग्रंथ इकट्ठे किए गए। बौद्ध ग्रंथों को एकत्र किया गया। थोड़े समय के बाद विज्ञान की विभिन्न शाखाओं जैसे भू-विज्ञान और जीव विज्ञान से संबंधित वस्तुओं एवं जीव-कंकाल आदि को सहेजकर संग्रहालय बनाया गया। ब्रिटिश अधिकारियों, कर्मचारियों ने परिश्रमपूर्वक विभिन्न रिपोर्टें तैयार करवाई। भूमि संबंधों पर आधारित 'सेटलमेंट रिपोर्टें' गहन अध्ययन के बाद लिखी गई। जिलों से संबंधित 'डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियरों' में जिलों का 'भौगोलिक-आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक' ब्यौरा प्रकाशित किया गया। बात यहीं तक नहीं रुकी। लोक-जीवन, लोक-भाषा, लोक-संस्कृति से संबंधित पहलुओं पर भी अंग्रेज अधिकारियों ने अध्ययन किए। जैसे जनसंख्या पर आधारित विस्तृत जनगणना दस्तावेज (सेन्सस) और गांव आधारित आर्थिक सर्वेक्षण। और भी न जाने कितने ही सैंकड़ों दस्तावेजों की सूची बन सकती है।

इन सभी अध्ययनों के साथ-साथ ब्रिटिश राज से जुड़े अधिकारी आंदोलनों को कुचलने में भी लगे थे। एक के बाद एक भयंकर अकाल पड़ रहे थे। जैसा कि कई राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने अपने शोध में सिद्ध किया-'पूंजी भारत से बाहर की ओर बहती रही।' क्या अंग्रेजों द्वारा भारत से संबंधित अध्ययनों और शासन कार्य में कोई सीधा एवं नकारात्मक शोषण-प्रोत्साहक संबंध था?

एक बात को निश्चियपूर्वक कहा जा सकता है कि शासन कार्य और भारत-अध्ययन आपस में जुड़े थे। पर इस बात का विश्लेषण आवश्यक है कि यह अध्ययन कितना पूर्वाग्रह ग्रसित था और कितना नहीं। इस सारे विषय पर चर्चा करते हुए हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि 'औपनिवेशिक प्रभुत्व वाले देश' और बाकी 'पश्चिमी देश' ज्ञान-परम्पराओं और संबंधों में कितने अलग हैं। उदाहरण के लिए, क्या ब्रिटिश अकादमिक इंडोलॉजी और जर्मन इंडोलॉजी में फर्क किया जाना चाहिए था? नहीं। 'इंडोलॉजी' यानि भारत की परम्पराओं-शास्त्रों-संस्कृति का अध्ययन। भारत जर्मनी का उपनिवेश नहीं रहा है। जिस औपनिवेशिक दमन-शोषण की बात अकसर होती है, भारत के सिलसिले में जर्मनी का वैसा दमन-शोषण वाला रूप नहीं रहा है। तो ब्रिटेन के भारत अध्ययन और जर्मनी के भारत अध्यन में गुणात्मक अंतर तो होना चाहिए। यानी जिन जर्मन विद्वानों जैसे मैक्समूलर, अल्ब्रेख्त वेबर, गोल्डस्टक्कर, ऑटो वान बोट्लिंग और रूडोलक रॉथ आदि ने जो संस्कृति पर कार्य किया, क्या उसे 'औपनिवेशिक ढांचे' के भीतर ही समझें या अलग से 'पश्चिमी परम्परा' नाम की इकाई भी विकसित करें। एक तथ्य जो इसमें ध्यान देने योग्य है, वह यह कि इन जर्मन विद्वानों में सबसे प्रसिद्ध 'मैक्स मूलर' ने अपना कार्य ब्रिटेन में रहकर किया। ठीक इसी तरह थियोडोर गोल्डस्टक्कर ने अपना पाणिनी पर आधारित कार्य ब्रिटेन में रहते हुए ही किया। बाकी जर्मन विद्वान जर्मनी में रहते हुए ही अपना कार्य करते रहे। तो हम कह सकते हैं कि पश्चिम का एक हिस्सा ऐसा भी था जो 'पश्चिमी होते हुए भी 'औपनिवेशिक ढांचे' के अंदर शोषणकर्त्ता के रूप में सीधे-सीधे मौजूद नहीं था। यह सूक्ष्म फर्क ध्यान रखने की जरूरत इसलिए है, क्योंकि जब 'औपनिवेशिक ब्रिटेन - की बात चलती है और उसकी आलोचना होती है, तो उस बहाने पूरा यूरोप घेरे में आ जाता है। ब्रिटेन के अलावा बाकी यूरोप की आलोचना तो होनी चाहिए, पर वैसे नहीं जैसे साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी ब्रिटेन की। हालांकि हम देखेंगे कि इसमें एक प्रसिद्ध विद्वान की राय अलग है। ये पूछा जा सकता है कि ब्रिटेन और बाकी पश्चिम में फर्क तो है, पर क्या सम्पूर्ण पश्चिम भारत की ओर प्रकारांतर से एशिया को ईमानदारी से समझता है और क्या वहां कोई पूर्वाग्रह है ही नहीं?

पश्चिम ने बड़े परिश्रम से 'पूर्व' को समझने का प्रयास किया है। 'पूर्व' अर्थात अरब-चीन-भारत आदि इलाके। पर ये समझने का प्रयास क्यों? उपनिवेशों पर राज्याधिकार वाले ब्रिटेन-फ्रांस के बारे में कहा जा सकता है कि यह 'समझने की कोशिश' शासन का जरूरी हिस्सा था। जब तक शासक अपने 'सब्जेक्ट' यानी प्रजा को समझेगा नहीं, तब तक वह राज कैसे करेगा? शायद इसीलिए ब्रिटिश अधिकारी भारत में परम्पराओं का अध्ययन करते थे और यहां के धर्म ग्रंथों के अनुवाद करवाकर उन्हें पढ़ते थे। यानी वो शासक वर्ग जो अध्ययन करता था वो शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए करता था।

यदि पूरा विमर्श इतने पर ही समाप्त हो जाए तो असंगत नहीं होगा, पर अधूरा जरूर होगा। अगर हम इस पूरी बात को केवल ब्रिटिश विद्वानों के भारत अध्ययन तक सीमित रखें तो शायद 'शासन के लिए अध्ययन' वाली व्याख्या हमें संतोष दे और हम कह सकेंगे कि वो अध्ययन पूर्वाग्रहों से भरा था। पर ये एक यांत्रिक और अति-सरलीकृत विचार होगा। अतः पहले हम ब्रिटिश अफसरों द्वारा भारत में किए गए अध्ययन को अलग-अलग वर्गों में बांट लेते हैं और फिर इसका विश्लेषण करें।

पहला वर्ग है-धर्म से जुड़े दर्शन-साहित्य ग्रंथों का अनुवाद और मूल-पाठों का प्रकाशन। दूसरा वर्ग समाज-विज्ञान से संबंधित

मराठी लोक कथा

फिर? फुर्र!

कहानी सुनाने वाला कहानियां सुना-सुना कर थक गया, पर सुनने वाले नहीं थके। उसे घेर कर बैठे बच्चों और बूढ़ों ने उससे और कहानी सुनाने का आग्रह किया। सो उसने कहना शुरू किया कि एक पेड़ पर बहुत सी चिड़ियां रहती थीं। इतना कहकर वह रुक गया। आदतन लोगों ने पूछा, 'फिर?'

कहानी सुनाने वाले ने कहा, 'एक चिड़िया पेड़ से उड़ी - फुर्र!'

'फिर?'

'फिर एक चिड़िया पेड़ से उड़ी-फुर्र!'

'फिर?'

'फिर एक चिड़िया उड़ी-फुर्र'

'फिर?'

'फुर्र!'

देर तक यही चलता रहा। 'फिर?' 'फुर्र!' 'फिर?' 'फुर्र!' से लोग ऊब गए। आखिर एक जने ने पूछा, 'यह कब तक चलेगा?'

कहानी सुनाने वाले ने कहा, 'जब तक कि सारी चिड़ियां उड़ नहीं जाती।'

अध्ययन और तीसरा वैज्ञानिक विषयों जैसे-भौतिकी, रसायन, भूगर्भशास्त्र और चिकित्सा आदि से संबंधित अध्ययन-सर्वेक्षण वगैरह। इनके अलावा और भी सूक्ष्म विभाजन हो सकते हैं पर वर्तमान चर्चा के लिए फिलहाल इन्हें ही इस्तेमाल कर लेते हैं

इस बात पर आगे चलने से पहले हम ऐसे दो विद्वान आचार्यों का जिक्र करें, जिन्होंने पिछली आधी सदी में इन सारी ज्ञान-प्रणालियों से जुड़े पक्षों को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पहले हैं, शिकागो यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर बर्नार्ड एस कॉन एवं दूसरे कोलंबिया यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर एडवर्ड सईद। सईद का नाम अधिक जाना पहचाना लग सकता है, पर जिन विचारों को सईद ने अपनी कृति 'ओरिएंटलिज़्म' में पिरोया, वे बर्नार्ड कॉन के लेखों और कक्षा-व्याख्यानों में बीज-रूप से पहले आ चुके थे। कॉन का कार्य इतिहास-एंथ्रोपोलॉजी को केंद्र में रखकर चल रहा था, तो दूसरी और सईद का काम साहित्यिक आलोचना और संस्कृति विमर्श के इर्द-गिर्द था। दोनों ने हमें 'पश्चिम' और 'पूर्व' के संबंधों को समझने की कुंजियां प्रदान की। गौरतलब है कि बर्नाड कॉन पीएचडी थीसिस के कार्य के लिए भारत आए और एक दलित जाति के बदलते स्वरूप पर शोध पत्र भी लिखा। कॉन ने आगे चलकर औपनिवेशिक काल की ब्रिटिश ज्ञान प्रणालियों पर बहुत कुछ लिखा, जिसका हम आगे काफी प्रयोग करेंगे। जिस 'जर्मन इंडोलॉजी' यानी भारत के संबंध में जर्मन अकादमिक कार्य का जिक्र पहले हुआ। उसके बारे में सईद ने अपनी विख्यात कृति 'ओरिएंटलिज़्म' में आरंभ में ही लिखा है। ('ओरिएंटलिज़्म' का हिन्दी अनुवाद 'प्राच्यवाद ' किया जाता है) सईद के अनुसार एंग्लो फ्रेंच यानी बर्तानवी-फ्रेंच और अमेरिकन प्राच्यवाद में तथा जर्मन प्राच्यवाद में एक चीज तो समान थी। वह थी-पूर्व पर पश्चिम की बौद्धिक 'सत्ता'। यानी सईद के अनुसार जर्मन बौद्धिक कार्य भी पूर्णतः 'शुद्ध' नहीं कहा जा सकता।

अब हम लौटें और एक-एक करके जिन तीन वर्गों का हमने खाका तैयार किया था, कॉन के कार्य के आधार पर उनका विश्लेषण करें, यह ध्यान रखें कि यह तीन वर्ग बहुत मोटे पर तौर फौरी ढंग से बनाए गए हैं। बिल्कुल सटीक वर्गीकरण के लिए बर्नार्ड कॉन की पुस्तक 'कोलोनिएलिज़्म एंड इट्स फॉर्मस आफ नॉलेज' देखी जा सकती है, जहां कॉन पुस्तक के शुरूआत में ही कई 'मौडेलिटीज' का उल्लेख करते हैं। (गौरतलब है कि बर्नार्ड कॉन सब-आल्टर्न स्टडीज समूह के साथ कार्य करते रहे हैं और इसी समूह के वरिष्ठतम विचारक रणजीत गुहा ने किसान आंदोलनों, बगावतों पर आधारित अपनी पुस्तक में एक अध्याय का नाम ही यही रखा था-'मौडेलिटी' जिसका नजदीकी अनुवाद हो सकता है-एक निश्चित ढंग या रीति।)

पहले वर्ग को समझने का प्रयास करते हैं। आखिर 1784 में जो 'ऐशियाटिक सोसायटी' बनी, उसकी क्या पृष्ठभूमि है? इसे बनाने वाले विलियम जोन्स की भूमिका क्या है? सईद के शब्द का इस्तेमाल करते हुए पूछें, कि लेखक की 'स्ट्रेटीजिक लोकेशन'(रणनीतिक जगह) कहां है? विलियम जोन्स संस्कृत ग्रंथों को क्यों समझना चाह रहे थे? न सिर्फ समझना बल्कि उनके अनुवाद करके मानक संस्करण भी छापना। यह ध्यान रखना होगा कि विलियम जोन्स 1783 में कलकत्ता में स्थित न्यायालय में जज बनकर आए थे। हिन्दुओं से संबंधित कानून बनाने के लिए हिन्दू ग्रंथों का अध्ययन जरूरी था। अनुवाद उपलब्ध थे नहीं, जो थे वे फारसी में ही थे और गड़बड़ियों से भरपूर। जोन्स खुद एक प्रतिष्ठित फारसी विद्वान थे पर उनका संस्कृत ज्ञान आरंभ में न के बराबर था। सितम्बर 1785 से लेकर अक्तूबर 1786 तक संस्कृत अध्ययन ने विलियम जोन्स को इस लायक बना दिया कि वह अब स्थानीय कोर्ट के पंडितों को सही-सही समझ पाएं और उन्हें दुरूस्त भी कर सकें। विलियम जोन्स की इस परिश्रमपूर्ण बौद्धिक कवायद में 'मनुस्मृति' का अनुवाद करना एक महत्वपूर्ण घटक था। बर्नार्ड कॉन के शब्दों में कहें तो भारतीय विचार और संस्कृति का 'ऑब्जेक्टिफिकेशन' (वस्तु में तबदील करना) और रिऑर्डरिंग (पुनर्रचना) चल रहे थे। कॉन के शोध निबंध का शीर्षक इस पूरी समस्या को समझने में मददगार है। 'दि कमांड ऑफ लैंग्वेज एंड दि लैंग्वेज ऑफ कमांड' अर्थात्-भाषा पर अधिकार एवं अधिकार की भाषा। इसी विषय पर क्योटो में अपने व्याख्यान में प्रोफेसर रोमिला थापर जी ने एक और पक्ष भी रखा है। (संदर्भ-कल्चरल पास्ट्स, एसेज इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री, आक्सफोर्ड इंडिया पेपरबैक्स, पृष्ठ 157) रोमिला जी के अनुसार ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफसर जो अध्ययन कर रहे थे वो स्थानीय ब्राह्मण विद्वानों की मदद से हो रहा था। अतः बौद्ध ग्रंथों पर इतना काम नहीं हो पाया। इसका एक कारण यह भी था कि बौद्ध ग्रंथों पर कार्य के लिए बौद्ध भिक्षु उपलब्ध नहीं थे और दूसरे यह कि इन्हें हिन्दू धर्म की ही हीन (इन्फीरियर) शाखाएं समझा गया।

यहां प्रश्न ये उठ सकता है कि आज हम इतने समय बाद तो ब्रिटिश विद्वानों के बौद्धिक कार्य की आलोचना कर रहे हैं, पर उस औपनिवेशिक दौर में भारतीय विद्वान इसे किस ढंग से देखते थे? इसका उत्तर होगा - प्रशंसात्मक और नकारात्मक, दोनों तरह से। स्वामी विवेकानंद 1897 में अपने शिष्य से बात करते हुए कहते हैं - ''ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस ऋग्वेद को छपवाने के लिए 9 लाख रुपए नगद दिए थे, उससे भी काम पूरा नहीं हुआ ...(पुनः) ज्ञान के निमित्त इतना व्यय और ऐसी प्रबल ज्ञान तृष्णा वर्तमान समय में क्या किसी ने इस देश में देखी है'' इससे पहले

स्वामी विवेकानन्द मैक्समूलर के बारे में अति-प्रशंसात्मक लहजे में कहते हैं, ''मुझे कभी-कभी ऐसा अनुमान होता है कि सायणाचार्य ने अपने भाष्य का अपने ही आप उद्धार करने के निमित्त मैक्समूलर के रूप में पुनः जन्म लिया है।'' जब विवेकानंद जी का शिष्य जर्मन मूल के ब्रिटेन में कार्यरत विद्वान मैक्समूलर को 'मलेच्छ' कहता है तो विवेकानंद जी जवाब में कहते हैं कि 'जो ज्ञान की तेजस्वी मूर्ति है, उनके लिए वर्णाश्रम या जातिविभाग कैसा'.... (इससे पहले) 'हम आर्य हैं', 'वे मलेच्छ हैं', आदि विचार अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं।' इस पूरे प्रकरण से स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानंद पश्चिमी विद्वान मैक्समूलर का गहरा सम्मान करते थे। मैक्समूलर के बारे में यह जान लेना उपयोगी होगा कि वह 1823 में जर्मनी में जन्में पर 1850 में ऑक्सफोर्ड में प्रोफेसर की नियुक्ति पाकर मृत्युपर्यन्त 1900 तक, यानी पचास साल इंग्लैंड में ही रहे। इसके अतिरिक्त महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी का भी नाम लिया जा सकता है, जो भारतीय दर्शन के विद्वान थे और अपने पुरालेख शास्त्र के विदेशी गुरु डा. वेनिस का बहुत सम्मान करते थे।

दूसरा वर्ग है-समाज विज्ञान से संबंधित अध्ययन। यही वो वर्ग है, जहां औपनिवेशिक काल में किए गए सर्वेक्षण जैसे जनगणना, जाति अध्ययन की चर्चा होती है और वो पूरी प्रक्रिया सामने आती है, जिससे भारत का सामाजिक ताना-बाना प्रभावित हुआ। समाज विज्ञान के अंतर्गत यों तो बहुत सारी चीजें आती हैं, पर हम फिर से बर्नार्ड कॉन के काम पर लौटते हुए जनगणना यानी 'सेन्सस' का अध्ययन करें। बर्नार्ड कॉन का एक बहुत प्रसिद्ध निबंध है-'दि सेन्सस, सोशल स्ट्रक्चर एंड ऑब्जेक्टिफिकेशन इन साऊथ एशिया' ये निबंध कई अलग-अलग किताबों में मिल जाता है। इस निबंध में कॉन जनगणना की पूरी प्रक्रिया को उधेड़ कर रख देते हैं। बहुत अधिक विस्तार के लिए इस निबंध को पढ़ा जाना चाहिए पर जो मुख्य बात कॉन ने कही, वह सोचने लायक है। कॉन का कहना है कि जब जनगणनाएं हुई (पहली बार 1871-72) तो भारतीयों को एकदम इस सवाल का सामना करना पड़ा कि वो कौन हैं? और उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था क्या है? अगर हम जनगणना के फार्मों में भरे जाने वाले सवालों को देखें तो हम देखते हैं कि उनमें भारी दिक्कते थीं। इन सवालों ने किसे प्रभावित किया? क्या एक किसान को जिसने इन सवालों का जवाब दिया? नहीं, बल्कि उन पढ़े-लिखे करीब पांच लाख आदमियों को जो ये जनगणना का काम कर रहे थे।

असल में हुआ ये, कि पहली बार भारतीयों को उनके ध र्म-जाति के बारे में ठोस जवाब देने पड़े। अतः एकदम से जो जाति-चेतना ढुलमुल थी, उसने एक पक्की शक्ल ले ली। इसको आसानी से समझने के लिए कुछ यूं देखें। मान लीजिए, आज इक्कीसवीं सदी में एक आदमी दूसरे व्यक्ति से पूछे कि 'तुम जिंदगी में क्या करना चाहते हो? तुम्हारा प्लान क्या है?' अब अगर दूसरे व्यक्ति ने इन सवालों के बारे में सोचा ही न हो और बिल्कुल बेफिक्र जिंदगी बिताता रहा हो तो क्या होगा? होगा ये कि इस दूसरे व्यक्ति को अब कुछ अपने बारे में सोचना पड़ेगा कि वो क्या करना चाहता है। उसे अपने आप से सवाल पूछने पड़ेंगे और इस पूरी प्रक्रिया में वो व्यक्ति बदलेगा। उसकी पूरी चेतना बदलेगी। अब उसका रवैया ढुलमुल नहीं हो सकता। चाहे उसे कोई भी जवाब बनाना पड़े, पर 'जवाब बनाने' की प्रक्रिया से गुजरना तो पड़ेगा। ये पूरा मामला उसकी चेतना के एक हिस्से को ठोस बना देगा।

खैर, ये उदाहरण और जाति का प्रश्न अलग-अलग है। पर इस उदाहरण को हम इतना तो समझ लें कि प्रश्न पूछने की प्रक्रिया और उत्तर देने की बाध्यता, एक 'मासूम' प्रक्रिया नहीं है। ये इतना सहज नहीं जितना लगता है। ये प्रश्न पूछने वाले व्यक्ति और उत्तर देने वाले इंसान, दोनों को बदल जाता है। यही काम जनगणनाओं ने किया। उनके बाद भारतीय समाज वो नहीं रहा, जो वह पहले था। हालांकि इस पूरे विमर्श का ये मतलब नहीं निकालना चाहिए कि पहले सब जाति-व्यवस्था बहुत भली और

तमिल लोक कथा

दो पत्नियों के बीच

एक अधेड़ आदमी अपनी पत्नी से खुश नहीं था। इसलिए वह एक और पत्नी ले आया। दोनों पत्नियां एक-दूसरे को फूटी आंख नहीं देख सकती थीं। वे हमेशा झगड़ती रहती थीं। सो पति ने शहर के अलग-अलग मौहल्लों में दो मकान बनवाए। बड़ी तकरार के बाद दोनों पत्नियां इस बात पर राजी हुई कि पति बारी-बारी से एक-एक दिन उनके साथ रहेगा।

जब वह छोटी पत्नी के साथ रहता, वह पति के सर से जुएं निकालने के बहाने उसके सारे सफेद बाल उखाड़ देती। वह चाहती थी कि उसका पति जवान दिखे और उसके सर पर एक भी सफेद बाल न हो।
जब वह आदमी अपनी बड़ी पत्नी के पास रूकता तो वह उसक काले बाल उखाड़ देती। बड़ी पत्नी को यह अच्छा नहीं लगता था कि उसका पति उससे छोटा दिखे।

नतीजा यह हुआ कि कुछ समय बाद उस आदमी के सर पर एक भी बाल नहीं बचा।

अच्छी थी और अंग्रेज शासक इसे खराब कर गए। जातियों का टकराव और शोषण पहले भी था, पर औपनिवेशिक प्रक्रिया ने इन टकरावों को पैना और तेज कर दिया।

तीसरा वर्ग है विज्ञान से संबंधित। ये एक तरह से अजीब भी लग सकता है कि वैज्ञानिक तथ्य तो 'तथ्य' होता है उसमें औपनिवेशिकता क्या करेगी? यह एक बेहद विवादग्रस्त क्षेत्र है। इसके लिए इतना जिक्र काफी होगा कि सबाल्टर्न विचारक ज्ञान प्रकाश और समाज-मनोविज्ञानी आशीष नंदी ने अपनी-अपनी किताबों में औपनिवेशिक तथा पश्चिमी विज्ञान-वैज्ञानिक परम्पराओं की आलोचना प्रस्तुत की है। हालांकि सुब्रतदास गुप्त ने सोशल साइंटिस्ट (मई-जून 2014) में एक शोध पत्र लिखा-'साईंस स्टडीज सैन्स साईंस' और ज्ञान प्रकाश एवं आशीष नंदी जी के कार्य की यह कहकर आलोचना की कि उनके कार्य में 'विज्ञान के मूल कंटेट' को अनदेखा किया गया है।

इतनी बात कर चुकने के बाद अब हम ये पूछें कि क्या पूरा पश्चिम हमें ठीक से कभी नहीं समझ सकेगा? क्या पश्चिम 'अन्य' (दि अदर) को हमेशा गलत ही पेश करता है? जब अल बेरूनी भारत आए और उन्होंने यहां व्याप्त संकीर्ण विचारों की सख्त आलोचना की, तो क्या वो गलत थे? अल बेरूनी आज से करीब एक हजार साल पहले भारत आए थे। वो न तो कोई उपनिवेशवादी थे न ही यूरोपवासी अंग्रेज। इसका अर्थ यह है कि अंग्रेजों या पश्चिमी विचार की आलोचना के बीच हमें यह ध्यान रखना है कि हम स्वयं को 'महान-शुद्ध-पवित्र' घोषित न कर बैठें। यह भी निष्कर्ष न निकाले जाएं कि पश्चिम से आने वाले विचार किसी काम के ही नहीं है। एक तटस्थ और संतुलित आलोचना का भाव हममें रहे। आधुनिक काल में अंग्रेजों के आने के बाद दलितों-स्त्रियों की स्थिति में जो परिवर्तन आए उन पर बहस बाकी है। हालांकि आज बौद्धिक जगत में औपनिवेशिक काल के दुष्परिणामों पर करीब-करीब सहमति है पर फिर भी यह याद रखें कि आधुनिक-शोषक सभ्यता के पश्चिमी मॉडल की आलोचना करते हुए गांधीजी ने थोरो-रस्किन जैसे पश्चिमी विचारकों की मदद ली और इस लेख में भी पश्चिमी एवं औपनिवेशिक ज्ञान-परम्पराओं की पड़ताल के लिए बर्नार्ड कॉन जैसे मूर्धन्य विद्वान के कार्य का भरपूर सहारा लिया गया।

आज जबकि पुराने अंदाज का उपनिवेशवाद संभव नहीं रहा और नए ढंग का साम्राज्यवाद पूरे विश्व में एक जटिल-जाल फैलाए हुए है, हम स्वयं को शुष्क पश्चिम विरोधी होने से और ताकतवर अमेरिकी-यूरोपीय महाशक्तियों के सम्मुख घुटने टेकने से, दोनों प्रवृतियों से बचाएं।

सम्पर्क - 09729482329

कन्नड़ लोक कथा

चीते के रचयिता

बहुत बरस पहले की बात है, चार ब्राह्मणों ने भारतवर्ष का भ्रमण करते हुए हर तरह का ज्ञान अर्जित किया। चारों एक-दूसरे को अपनी सिद्धियां और गूढ़ विद्याएं बताना चाहते थे।

सो चारों ने जंगल में मिलने का निश्चय किया। वहां उन्हें चीते की जांघ की एक हड्डी मिली। एक ब्राह्मण ने कहा, 'मैं इससे चीते का पूरा अस्थिपिंजर बना सकता हूं।' और उसने वह कर दिखाया।

दूसरे ब्राह्मण ने कहा, 'मैं इसे त्वचा, मांस और रक्त प्रदान कर सकता हूं।' उसने भी वह कर दिखाया। उनके सामने जीता-जागता-सा धारीदार चीता खड़ा था।

तीसरे ब्राह्मण ने कहा, 'तुम्हें पता नहीं मैं क्या कर सकता हूं! मैं इसमें प्राण डाल सकता हूं।'

चौथा ब्राह्मण उनकी तरह पोंगा पंडित नहीं था। बोला, 'ठहरो! इसकी आवश्यकता नहीं। हमें तुम पर विश्वास है।'

पर तीसरे ब्राह्मण ने कहा, 'उस सिद्धि का क्या लाभ, जिसे क्रियान्वित न किया जाए अपनी इस सिद्धि का प्रयोग करने का मुझे कभी अवसर नहीं मिला। मैं अभी इसमें प्राण डालता हूं, तुम देखो तो सही!'

चौथे ब्राह्मण ने कहा, 'ठीक है, तुम्हारी मंशा है तो ऐसा ही करो। परन्तु पहले मुझे पेड़ पर चढ़ जाने दो!' यह कहकर वह तेजी से पास के पेड़ पर चढ़ गया।

तीसरे ब्राह्मण ने मंत्र जपना शुरू किया और लो, चीता जीवित हो गया। जीवन का संचार होते ही चीते अंगड़ाई ली और आहार की तालाश में इधर-उधर देखा। उसे कड़ाके भूख लगी थी। तीनों ब्राह्मण कांपते हुए एक-दूसरे से सटे खड़े थे। भय से वे जड़ हो गए थे। उनमें भागने की शक्ति ही नहीं बची। चीता उन पर झपटा और मारकर खा गया। पीछे केवल उनकी हड्डियां ही बची।

यह देखकर पेड़ पर बैठे ब्राह्मण के देवता कूच कर गए। उसका खून जम गया। तीनों को खाकर चीता गुर्राता हुआ जंगल में चला गया तो वह धीरे-धीरे से पेड़ से नीचे उतरा और विद्वान मित्रों की अंत्येष्टि का प्रबंध करने के लिए गांव की चल पड़ा।

सुनील 'पागल' की कविताएं

कविता लिखना मेरे लिए कभी आसान नहीं रहा। ये हमेशा से ही पीड़ादायक रहा है। जब कोई बात कचोटती है या मुझे लगता है कि मुझे प्रतिक्रिया करनी चाहिए तो मेरा अंतिम रास्ता कविता ही होता है और मैं कविता लिख देता हूं। मेरी समझ से कविता सीधी सादी होनी चाहिए। पाठक जब अनुवाद करता या करवाता है तो अर्थ के अनर्थ हो जाते हैं। कवि व पाठक के बीच की दूरी कम से कम होनी चाहिए। इसलिए मैं कविता सरल व सीधे शब्दों में लिखता हूं और चाहता हूं कि पाठक भी वही बात समझे जो दरअसल मैं कहना चाहता हूं। आप गहरे से देखेंगे तो ये प्रेम कविताएं हैं जो समाज, राष्ट्र व व्यक्ति से प्रेम के कारण लिखी गई है। कोई व्यक्ति जब प्रेम में होता है तो वो अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए अनेकों माध यम अपनाता है। मेरे लिए समाज, राष्ट्र व व्यक्ति से अपना प्रेम प्रदर्शित करने का माध्यम मेरी कविताएं हैं और वही मैं करता हूं। रूसी कवि सर्गेयी येस्येनिन की कुछ पंक्तियों का उल्लेख करना चाहूंगा।

कवि होना ऐसा है
जैसे जीवन के प्रति निष्ठा रखना
हर मुश्किल में
मानो खुद अपनी चमड़ी उधेड़ कर कोमल चमड़ी
देना लहू उड़ेल
अन्य लोगों के दिलों में।

आवाजें

आवाजें
जो कभी अटक जाती थीं
निकलने से पहले
गले में फांस बनकर
अब बाहर निकलने
लगी हैं
आवाजों को अब
जगह मिलने लगी है।

हमारे अंधेरे कोने

सल्तनत
हमारी निगरानी करती है
ताकि हम अच्छा देखें
अच्छा सुनें
अच्छा बोलें
और अच्छा पढ़ें
लेकिन हमारे घर के
अंधेरे कोने तक
उसके कैमरे की पहुंच
क्यों नहीं है
जहां हम छुप कर
रोते हैं।

चलो हम अदा करें

ताने मत दो
कि वो लड़े नहीं
व्यवस्थाओं से
कैसे लड़ते भला
जिन्दगी को जीना ही
उनके लिए
लड़ाई बन गई थी।
वे बहुत खूब लड़े
जिन्दगी से
उन्होंने अपना
हक अदा किया
अब हम भी लड़ें
उनके लिए
चलो अपना
हक अदा करें।

सच

सच वो नहीं था
जो परोसा जा रहा था
सच वो भी नहीं था
जो मनचाहे रंगों का
चश्मा पहन कर
हम देख रहे थे
सच को हमारे देखने ना देखने से
कोई फर्क नहीं पड़ा
सच बिल्कुल इश्क ओर मुश्क (महक)

की तरह निकला
ना चाहते हुए भी
बाहर आ ही गया।

हमारी जमीनें

हम बचे रहे
क्योंकि बची रही
हमारी जमीनें
हम जिन्दा रहे
क्योंकि हमने पैदा किया
अनाज
तुम भी बचे रहे
क्योंकि बची रही
हमारी जमीनें
तुम भी जिन्दा रहे
क्योंकि हमने पैदा किया
अनाज
हम खत्म हो रहे हैं
क्योंकि तुमने छीन ली हैं
हमारी जमीनें
हम मर रहे हैं भूख से
क्योंकि इस बार
पैदा नहीं कर सके
अनाज
तुम भी खत्म हो जाओगे
एक दिन
क्योंकि हमारे पास
नहीं बची जमीनें
तुम भी मरोगे
क्योंकि अब हम
पैदा नहीं कर पाएंगे
अनाज।

बाजार और हमारे बच्चे

वे बेच रहे हैं
हमारे बच्चों के लिए
लिफाफों में बंद खाना
बता रहे हैं कि किसी भी प्रकार
की रोटी से ज्यादा
बिस्कुट ही बुझा सकते हैं
पेट की आग
ललचा रहे हैं रंग-बिरंगी चॉकलेट
और टॉफियों से
ताकि वो मुंह मोड़ लें
अपने घर में बनी हर चीज से
बता रहे हैं कि दांत मांजे जा सकते हैं
केवल उन्हीं के बनाये
टूथपेस्ट से
उनकी कहानी के सभी बच्चे
होते हैं सिर्फ गोरे चिट्टे
क्योंकि वे नहाते हैं
उन्हीं की बनाई
खुशबूदार साबुन से
इन सबके बावजूद
हम जमा कर रहे हैं कुछ रुपए
ताकि हमारे बच्चे
खरीद सकें किताबें
और पढ़ सकें बाजारवाद
समझ सकें झूठा अर्थशास्त्र
चमकने वाली टॉफियों के पीछे छुपा
असली सच
तब वे फेंक कर मारेंगे तुम्हारे मुंह पर
ये बंद लिफाफे
रंग बिरंगी टॉफियां
तुम्हारे दांत चमकाने वाले
टूथपेस्ट।

हमारे सवाल

ये कुछ अजीब नहीं लगता
आप उनसे सवाल करें अपने
गांव के बारे में
और वे कत्थक की भाव भंगिमाओं पर
व्याख्यान देने लगे
कई बार मुझे लगने लगता है
मैंने दर्शनशास्त्र की कक्षा में
परांठे बनाने की रेसिपी पूछ ली है
ऐसे अवसर पर उन्हें मैं
शामियाने में खामखा घुस आये
कुत्ते सा लगता होऊंगा
कल एक अदना सा सवाल उठाया था
पिछले दिनों मर गए किसान के बारे में
वे विदेश नीति पर भाषण पिलाने लगे
हद तो तब हो गई
जब हमने उनसे कहा
बाबू जी हम इस भाव में
कहां से खाएं दाल रोटी
तो बोले
काहे दिमाग का दही किए जा रहे हैं
काल रेट देखिये कितना सस्ता किए हैं
जी भर के बतियाया कीजिए अब
दाल रोटी के बिना मर थोड़े न जाएंगे
और भी बहुत कुछ खाने को।

मितली

बहुत से सवाल
उस मितली की तरह होते हैं
जो पेट में घुमड़ती तो है
पर बाहर नहीं आती
बड़ा तकलीफ देय होता है
सवालों से डरना
और दुबके रहना इस बात से
कि आपके सवाल बाहर
निकलते ही
आपका गला घोंट दिया जाएगा
कुछ भी हो
सवाल जरूरी भी होते हैं
लेकिन लोकतंत्र ने
इतनी आजादी कहां दी है
एक आम आदमी को
वह प्रधानमंत्री की मेज पर
सवालों की उल्टी कर सके।

पहाड़ पर चढ़ते लोग

चमकती धूप में
सोने सा दमकता चेहरा
माथे पर पसीने की बूंदें लेकर
फटी बिवाइयों के रिसते

खून से
वे अपने निशान लिख रहे हैं
वे पहाड़ चढ़ रहे हैं
उनकी तनी हुई मांसपेशियों को देखो
उनकी भुजाओं की फड़फड़ाती
मछलियों को देखो
उनकी निगाहें ठीक उस जगह
टिकी हैं
जहां क्षितिज है
पृथ्वी उनके कदम चूम रही है
आसमान बाहें फैलाकर
बुला रहा है
ये पहाड़ पर चढ़ते लोगों का
सौंदर्यशास्त्र है।

चना और भाड़

वह चने का बीज
अकेला था
जिसने पौधे को जना
और सैंकड़ो चने
पैदा किए अपने साथ
वह चना भी अकेला था
जो घुन बनकर
सबको अपने साथ
आटा बनाता रहा।
हमारी मातृभाषा के
एनसाइक्लोपिडिया में
बेशक लिखा हो
अकेला चना भाड़ नहीं
फोड़ सकता
पर साथी
हमारे लहू के इतिहास में
भाड़ अकेलों ने ही फोड़े हैं।
फिर भी हम अपने-आपको
चना मानकर
भाड़ फोड़ने लायक
नहीं समझते
जबकि हम इन्सान हैं
भाड़ भी हमने ही
फोड़े हैं
चना न होते हुए भी।

बच्चे

वे बच्चे ही थे
हां वे बच्चे ही थे
वे लांघ जाते थे समुद्र को
एक ही कदम से
उन्होंने तय की थी
चांद तक की दूरियां कई बार
बिना अंतरिक्ष यानों के



कई बार उन्होंने आपके
समस्त ज्ञान की टोकरी को
बिखरा दिया था एक ही ठोकर से
बेशक वे मुंह बाये देखते रहते थे
जब आप बघार रहे होते थे
अपनी तमाम विद्वता
राजनीति, आरक्षण और महंगाई पर
आपकी जबान पर लग जाती थी लगाम
उनके एक अदना से सवाल
पूछते ही
आजकल वे दिखने लगे हैं
अलग से, खामोश और अलसाए हुए
लगातार सिमटते जा रहे हैं
अपने-आप में ही
लगा लिया है जुबान पर ताला
आपके डर से
स्कूल से लौटते ही जुट जाते हैं
कोल्हू के बैल की तरह
अपने काम में
बिना धमाचौकड़ी मचाए
तो क्या हम विकास की अगली छलांग
बिना बच्चों के ही लगाने वाले हैं।

शरीफ लड़कियां

वे हमारे हिसाब से तो
शरीफ लड़कियां कतई नहीं थी
वे उड़ती थीं आवारा
हवाओं के साथ
आवारा होकर
वे जींस पहनती थीं
कमर से थोड़ा नीचे
वे अक्सर छेड़ देती थी कोई तान
किसी की परवाह किए बिना
सिनेमाघरों में देखती थीं फिल्में
लड़कों के साथ
सर से सर मिलाकर
रजाई में दुबक कर
पढ़ती थीं उत्तेजक किताबें
और हंसती थीं जोर से
अश्लील चुटकलों पर
आहें भरती थीं
नायक के नंगे बदन को
पर्दे पर देखकर
उन्होंने खुद चुने थे अपने प्रेमी
घरों को कह दिया था अलविदा
वे शरीफ नहीं थीं
पर उन्हें शरीफ होने से ज्यादा
अपने लड़की होने में
खुद को बचाये रखना
ज्यादा जरूरी लगता था।

पुरुषों का सौंदर्यशास्त्र

सृष्टि के निर्माण से लेकर अब तक
पुरुषों ने ही लिखा है
स्त्रियों का सौंदर्यशास्त्र
ताकि वो बेवकूफ बनी
जिमखानों में गुजारती रहें
अपना बेहतरीन समय
लीपती रहें अपने चेहरों को
तमाम गैरजरूरी चीजों से
कुंठित होकर
आईने से मुंह फेरकर
छटपटाती रहें
पुरुष की दृष्टि का सही माप
पाने के लिए
अगर रची जाती कोई कविता
स्त्रियों द्वारा
किसी पुरुष के सौंदर्य का वर्णन
करने के लिए
तो दुनिया के तमाम पुरुषों को
रतिभर भी जगह नहीं मिलती
स्वयं के बनाए गए
आदमकद आइनों में
इसीलिए तो प्रतिबंधित है
स्त्रियों द्वारा
पुरुषों का सौंदर्यशास्त्र लिखा जाना।

तुम्हारी उड़ान

बहुत बार ऐसा हुआ है
तुम्हारी देह में से
तुम्हें ही टटोलना पड़ा
जैसे तुम हो ही नहीं
अपनी देह के साथ
कैसे फुर्र से उड़ जाती हो
किसी दूसरे ही आसमान में
छोड़ कर अपना सब
मेरी बाहों में
मैं इस भ्रम में
लिपटा पड़ा रहता हूं
की तुम मेरे पास हो
मैंने देखा है
बहुत वक्त लगता है
तुम्हें वापिस लौटने में
मैं नहीं जानता
ये कैसा अनुभव है तुम्हारे लिए
पर जब देखता हूं तुम्हारे चेहरे को
मध्यम रोशनी में
तो बड़ी इच्छा होती है
काश मैं भी छोड़ सकता अपनी देह
बिना मरे ही।

पहाड़ का आदमी

पहाड़ का आदमी
मजबूत होता है बहुत
चट्टान सा
सुना है, जब हिमालय जीतने जाते हैं लोग
कि दर्ज हो सके उनका नाम भी
लम्बी फेहरिस्त में
पहाड़ का आदमी साथ होता है
सबसे आगे
सामान लादे पीठ पर
उनका रास्ता बनाते हुए
पहले वही लांघता है
गहरी खाइयां और खतरनाक दर्रे
पीछे-पीछे चढ़ते हैं
पर्वतारोही
पहाड़ का आदमी
नहीं जीतना चाहता पहाड़
वह स्वयं ही पहाड़ है
पहाड़ बसा है उसके भीतर
गहरे तक
जब गाड़े जाते हैं झंडे
पहाड़ की सबसे ऊंची चोटी पर
सबसे पीछे खड़ा होता है
पहाड़ का आदमी।

गांव नांगल दर्गू, तह. नारनौल, जिला महेन्द्रगढ़(हरियाणा)
मोः 8199020700, Email : sunilpagal1976@gmail.com

भारत में मजहब

लेखक-छोटू राम, अनुवाद हरि सिंह

भारतीय समाज में मजहब की भूमिका जानने की बटलर की जिज्ञासा पर छोटू राम ने समाजविज्ञानी की अन्तर्दृष्टि से बहुआयामी जवाब दिया।

पूरब में, विशेषतः भारत में लोगों में मजहब का बहुत गहरा और ऊंचा स्थान है। यह लिखने में मुझे तनिक भी झिझक नहीं कि भारत में भी मजहब के बारे में जनता पूरी तरह चिपकी हुई नहीं है। परन्तु जब भी मजहब के नाम पर कोई बात कही जाती है या कोई घटना घटित होती है तो जनता का मजहब के प्रति आदर उमड़ पड़ता है, जिसे देखकर परिश्मवाले आश्चर्यचकित रह जाते हैं। ताज्जुब यह है कि इस धार्मिक भावना की खिल्ली उड़ाने वाले चंद व्यक्ति ही हैं और इसका अनादर करने वाला कोई भी नहीं है।

यह कहना अतिश्योक्ति होगी कि तमाम भारतवासी बहुत भारी संख्या में 'धार्मिक' हैं, परन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जिस आम फिजा में भारतीय जीवन गुजरता है उस पर मजहब का गहरा प्रभाव है। मजहब की अपील मार्मिक होती है। भारत को अक्सर मजहब-ग्रस्त देश कहा जाता है। इस बात का मजाक उड़ाया जाता है। मुझे यह सोचने में आनंद आता है कि मेरे भारत में मजहब ओतप्रोत है। भारतवासी अधार्मिक नहीं हैं। भारतवासियों के दिमागों में मजहब की जड़ें गहरी और मजबूत हैं। मजहब की जकड़ जोर की है। यही सच है। इस मजहबी जकड़ की कुछ असुविधाजनक हानियां भी हैं, मगर अधार्मिकता या धर्म के प्रति अनादर की तुलना में धार्मिकता बेहतर है, अधिक स्वस्थ धारणा है।

भारत की 31 करोड़ की आबादी है। 20 करोड़ हिन्दू हैं, 7 करोड़ मुसलमान हैं, बाकी भारतीय ईसाई, सिख, जैनी, पारसी, यहूदी आदि हैं। केवल बर्मा में बौद्ध हैं।

महान अशोक के राज में बौद्ध धर्म तो राज धर्म था। भारत में बौद्ध धर्म ने जन्म लिया और खूब फैला और फला। परन्तु आठवीं सदी में यह व्यापक धर्म सिसकने लगा। जनता इससे थककर इसके विमुख हो गई। 11वीं सदी के अंत तक तो यह भारत से पूर्णतः निष्कासित हो गया। बौद्ध धर्म तो जातिवाद की कठोरता के खिलाफ विद्रोह था। ब्राह्मणों के पुरोहित-पुजारी वर्ग ने अति कर्मकांड थोप दिया था। बौद्ध धर्म सांख्य दर्शन पर आधारित था। उसका पुनर्जन्म में विश्वास था जो हिन्दू दर्शन का अटूट

रहबरे आजम छोटू राम

जन्म : 24 नवम्बर 1881, दिल्ली-रोहतक मार्ग पर गांव गढ़ी-सांपला, रोहतक (हरियाणा-तत्कालीन पंजाब सूबा) में चौधरी सुखीराम एवं श्रीमती सिरयां देवी के घर। 1893 में झज्जर के गांव खेड़ी जट में चौधरी नान्हा राम की सुपुत्री ज्ञानो देवी से 5 जून को बाल विवाह।

शिक्षा : प्राइमरी सांपला से 1895 में झज्र से 1899 में, मैट्रिक, एफए, बीए सेन्ट स्टीफेन कॉलेज दिल्ली से 1899-1905। कालाकांकर में राजा के पास नौकरी 1905-1909। आगरा से वकालत 1911, जाट स्कूल रोहतक की स्थापना 1913, जाट गजहट (उर्दू साप्ताहिक) 1916, रोहतक जिला कांग्रेस कमेटी के प्रथम अध्यक्ष 1916-1920, सर फजले हुसैन के साथ नेशनल यूनियनिस्ट पार्टी (जमींदार लोग) की स्थापना 1923, डायरकी में मंत्री 1924-1926, लेजिस्लेटिव काउंसिल में विरोधी दल के नेता 1926-1935 व अध्यक्ष 1936, सर की उपाधि 1937, प्रोविन्सियल अटॉनमी में मंत्री 1937-1945, किसानों द्वारा रहबरे आजम की उपाधि से 6 अप्रैल 1944 को विभूषित, भाखड़ा बांध योजना पर हस्ताक्षर 8 जनवरी 1945।

निधन : शक्ति भवन (निवास), लाहौर-9 जनवरी 1945।

1923 से 1944 के बीच किसानों के हित में कर्जा बिल, मंडी बिल, बेनामी एक्ट आदि सुनहरे कानूनों के बनाने में प्रमुख भूमिका। 1944 में मोहम्मद अली जिन्ना की पंजाब में साम्प्रदायिक घुसपैठ से भरपूर टक्कर। एक मार्च 1942 को अपनी हीरक जयंती पर उन्होंने घोषणा की-**'मैं मजहब को राजनीति से दूर करके शोषित किसान वर्ग और उपेक्षित ग्रामीण समाज कीसेवा में अपना जीवन खपा रहा हूं।'** भारत विभाजन के घोर विरोधी रहे। 15 अगस्त 1944 को विभाजन के राजाजी फॉर्मुले के खिलाफ गांधी जी को ऐतिहासिक पत्र लिखा।

सिद्धांत है। 'निर्वाण' को आदर्श माना। व्यक्तिगत आत्मा का परमात्मा में मिलन माना गया, जो पहले से ही उपनिषदों में वर्णित है। फिर भी महान गौतम बुद्ध (556-486 ईसा-पूर्व) वेदों के आधिपत्य को नहीं मानते थे। मुक्ति के साधन के रूप में बलियों और कर्मकांडों से इंकार किया। जातिवाद के साम्राज्य को ढाया। सादगी, विनम्रता, मानव सेवा और मानवीय भाईचारे का प्रचार किया। हिन्दू धर्म फिर उभरा। बौद्ध धर्म में जो भी शुभ या जरूरी था वह पचाया और चंद सदियों में बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म का अंग बना। फिर भी बौद्धों के सामाजिक रिवाज और व्यवहार हिन्दुओं से इतने मिलते-जुलते हैं कि उनमें कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। विदेशी यात्री तो जैनियों और हिन्दुओं को एक ही जैसा पाते हैं। खुद हिन्दुस्तानी भी इनमें कोई भेदभाव नहीं देखते।

सिख धर्म की स्थापना गुरुनानक ने 15वीं सदी के अंत और 16वीं के आरंभ में की। संस्कृत के शिष्य शब्द से 'सिख' शब्द बना। गुरु नानक के शिष्यों ने वर्तमान सिख धर्म चालू किया। गुरु नानक के सिद्धांत हिन्दू धर्म के सिद्धांतों से मिलते-जुलते हैं। परन्तु महान गौतम बुद्ध की भांति ही गुरु नानक ने भी जातिवाद की कट्टरता और क्रूरता के खिलाफ बगावत की थी। सहिष्णुता का प्रचार किया था। मानवीय भाईचारा स्थापित किया था। सब चकित रह गए क्योंकि उन दिनों आपसी सहनशीलता अजनबी चीज थी। गुरु नानक ने वेदों को ईश्वर द्वारा अवतरित नहीं माना और हिन्दुओं की रीतियों-रस्मों को जीवन-मुक्ति का माध्यम नहीं माना। अन्य नौ गुरुओं ने नानक के सिख धर्म का डटकर प्रचार किया। अंतिम दसवें गुरु गोबिन्द सिंह 1708 ईस्वी में गुजर गए। 'गुरु ग्रंथ साहिब' सिखों का धार्मिक पवित्र ग्रंथ है। इसमें 10 सिख गुरुओं और कबीर आदि संतों की वाणियां संग्रहित हैं। सिख धर्म भारत में और दुनिया में एक जानदार शक्ति है। दिलों में रूह फूंकता है। मुगल सम्राटों और उनके मुसलमान गवर्नरों ने सिख धर्म पर जुल्म ढाए। बाध्य होकर 'खालसा' ने जन्म लिया। जुल्म के खिलाफ तलवार उठाई। राजनीतिक शक्ति बने। अपना राज स्थापित किया, जिसमें वर्तमान पंजाब, जम्मू-कश्मीर और सरहदी सूबा शामिल थे। केवल सतलुज नदी के नीचे के भाग से सिख बाहर रह सका। महाराजा रणजीत सिंह के निधन के बाद सिखों में आपसी फूट डालकर 1849 ईस्वी में अंग्रेजों ने पंजाब को भी अपने अधीन कर लिया।

जब मुगल सम्राटों का क्रूर शिकंजा ढीला हुआ, तो सिख धर्म हिन्दू मत-मतांतरों की तरह अलग मत बन गया। मगर शहरी हिन्दुओं ने सिखों को बुद्धू बनाया, क्योंकि ज्यादातर सिख अनपढ़ व अनभिज्ञ किसान थे। सरकारी संरक्षण में सिखों का भाग खुद हड़प लिया। गुरुनानक वेदों, उपनिषदों व शास्त्रों के विद्वान नहीं थे। ऊंचे दर्जे के संत थे। जैसे संत कबीर थे। आर्य समाज उभरा और गुरु नानक की उपेक्षा की। हिन्दू कौम के शिक्षित नेताओं ने सिखों के चंद विशेष रिवाजों का मजाक उड़ाया। इससे बुद्धिजीवी शिक्षित सिखों ने सिखों को जागृत किया, उनको संगठित किया और नेतृत्व दिया। हिन्दुओं से अलगाव की नीति अपनाई। विदेशी अंग्रेज सरकार ने, जैसे कि प्रत्येक सरकार करती है, इस अलगाव आंदोलन से लाभ उठाया, उनका उत्साह बढ़ाया। सिख झंडे के नीचे आने वाले प्रत्येक संगठन को अपना संरक्षण दिया। हिन्दुओं और सिखों के बीच खाई चौड़ी-गहरी होती गई।

सिख सबसे अधिक संवेदनशील कौम है। उनमें अपने धर्म के प्रति कट्टर आस्था है, सबसे अधिक साहसी हैं, तेज हैं, निर्भीक हैं, जुझारू हैं। सरकार का पूरा संरक्षण था ही। सिख महाराजाओं ने खुलकर मदद की। शिक्षा, संगठन और सत्ता में तेजी से विकास हुआ। हिन्दू महंतों से टक्कर ली। हिन्दुओं के निहित स्थापित स्वार्थों पर लात मारी। सरकार की पोल खोली। सिखों में स्वाभिमान और आत्मविश्वास उभरा। अंग्रेज भी चौंक उठे।

जैसे ईसाइयों में प्रोटेस्टेंट अलग निकले थे, उसी प्रकार हिन्दू धर्म में से सिख अलग निकले। इस ऐतिहासिक तथ्य पर कोई संदेह नहीं कर सकता है। परन्तु सिखों में वही सामाजिक नियम बरते जाते हैं, वही विरासत के कानून लागू होते हैं और वे हिन्दुओं के साथ अपना, मां का और नानी का गोत्र बचाकर आपस में शादियां तक करते हैं। एक ही कुटुम्ब में, एक ही छत के नीचे पिता हिन्दू है और बच्चों में कोई हिन्दू और कोई सिख। रलमफलम कुटुम्ब है। श्री मेहमाफ ने होली ग्रंथ का अनुवाद किया और शरारतभरी टिप्पणी दी, मगर फिर भी पूरे अलगाव के बावजूद सिख गाय को हिन्दुओं की भांति 'माता' मानते हैं। गऊ की पूजा करते हैं। आर्य समाज, ब्रह्मसमाज, देव समाज, कबीर पंथ, दादू पंथ तथा मत व पंथों की तरह सिख पंथ भी हिन्दू कौम के शक्तिशाली अंग रहेंगे। वैसे सिख अपने को हिन्दुओं से अलग रखकर, अपनी स्वतंत्र पहचान बनाकर रहेंगे। सिख इतिहास, सिख साहित्य और सिख संस्कृति की अपनी विशेषता रखेंगे। यूं तो सरदार भगत सिंह के दादा सरदार अर्जुन सिंह, पिता सरदार किशन सिंह और चाचा सरदार अजीत सिंह जिन्होंने 'पगड़ी संभाल जट्टा' का नारा बुलंद किया था, आर्यसमाजी थे और 'इंकलाब जिंदाबाद' का नारा लगाने वाले क्रांतिकारी सिख युवक भगतसिंह कट्टर नास्तिक। सब बातों का निचोड़ यह है कि सिख एक जोरदार कौम है जो किसी अन्य धर्म की छाया में नहीं रहेगी।

आपने मुझसे हिन्दू धर्म की व्याख्या चाही मैं खुद वैदिक धर्म का अनुयायी हूं।

हिन्दू हूं, इसलिए आपने सोचा कि मैं हिन्दू धर्म का निचोड़ बता सकता हूं। मुझे डर है कि मैं आपकी आशा पूरी करने में असमर्थ हूं। मैं हिन्दू धर्म को गंगा के पानी की तरह कूजे में बंद नहीं कर सकता हूं। हिन्दू धर्म न ही एक मत है न ही ईसाई, यहूदी और इस्लाम की भांति खालिस मजहब है। यह अनेक मतों का भंडार है। वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों, गीतों, पुराणों, अनेक मत-मतांतरों, रामायण, महाभारत की कथाओं, संतों की वाणियों का समुद्र है। अनेक युग आए, युग गए। हमलावर आए और गए। अनेक झकोले लगे, अनेक आंदोलन हुए। परन्तु हिन्दू धर्म सबको हजम करता रहा। इसलिए हिन्दू धर्म उदार है, विशाल है, व्यापक है, सहिष्णु है, सहनशील है, अहिंसक है। अस्पृश्यता का कलंक व जहर न हो तो शुद्ध गंगाजल है। सुधारक आए, आते रहेंगे। समय और स्थान के अनुसार, जमाने की चाल व मांग के अनुसार हिन्दू धर्म अपने को ढालता रहेगा। 1857 की क्रांति के बाद अंग्रेज सावधान हैं। किसी के मजहब में कोई दखल नहीं देते, हां, मजहबी भेदों को मजहबी दंगों तक पहुंचाने में माहिर हैं। भारत के उत्थान, कल्याण और आजादी के लिए हिन्दू-मुस्लिम-सिख एकता जरूरी है। मैं इसी काम में जुटा हुआ हूं। मजहब को अपनी युनियनिस्ट राजनीति से अलग रखता हूं। पंजाब के किसानों को सूदखोरों से मुक्ति दिलाने के लिए उनको एकजुट करता हूं। चूंकि किसान सब मजहबों में हैं और कृषि धंधे के कारण एक प्लेटफार्म पर जमा हो रहे हैं यह किसान एकता फिरकापरस्ती को भी लगाम देगी। किसान नौजवानों को सेना में भर्ती कराता हूं ताकि वे दुनिया देखें, आर्थिक दशा सुधारें और शिक्षा में खर्च करें और समय आने पर आजाद भारत की रक्षा करें। अंग्रेज ने भारतीय सेना को मजबूत और अनुशासित किया है जो भारत की अखंडता और धर्मनिरपेक्षता की गारंटी है। सेना में सब मजहबों के नौजवान हैं जो इस बात का ठोस प्रमाण हैं कि भारत एक राष्ट्र है।

बेशक आज गुलाम है, परन्तु दुनिया बदल रही है, अंग्रेजी साम्राज्यवादियों को भी बदलना पड़ेगा। भारत को आजाद करना पड़ेगा। यदि संवैधानिक तरीके से सत्ता सौंपते रहे तो आजाद भारत एक महान शक्ति बन जाएगा अन्यथा 1857 की तरह खूनी क्रांति होगी। खतरा एक ही है कि कभी हिन्दू और मुसलमान आपस में न झगड़ पडें और अंग्रेज इस फूट से नाजायज लाभ उठाएं। यदि अंग्रेज की नीयत साफ व ठीक रही तो इस फूट को भी वह मेल में बदल सकते हैं। जब सदियों से हिन्दू और मुसलमान साथ रहते आए तो आजादी के लिए और आजादी के बाद भी भाई-भाई बनके रहेंगे। भारत सबका वतन है। सब बराबर के नागरिक हैं। कोई भी मजहब आपस में वैर करना नहीं सिखाता है। सब एक-दूसरे के मजहब का समान आदर करेगे। सब ऋषियों, पैगम्बरों, गुरुओं, संतों और पीरों का आदर करेंगे।

शायद मेरे इस विवरण से आप विचलित हो जाएं, क्योंकि हिन्दू धर्म की संकुचित व्याख्या नहीं की जा सकती है। यह तो खुली और बहती नदी के समान है, जिसमें अनेक नाले आकर गिरते हैं - वेद इसका मूल स्रोत है। मैंने जो देखा, पढ़ा, मनन किया, समझा वह लिख दिया। कुछ छिपाया नहीं, कुछ बढ़ाया नहीं। न मैं भावुक हूं, न रूढ़िवादी हूं, न फिरकापरस्त हूं, न द्वेषी हूं। मैं सब मजहबों का समान आदर करता हूं। मैं खुदा का वैसा बंदा नहीं हूं जो वनों में मारे-मारे फिरते हैं, मैं उसका बंदा हूं जिसको खुदा के बंदों से प्यार है। भारत में अंग्रेज का राज है, कितना ही अच्छा हो, फिर भी विदेशी है इसलिए मैं अंग्रेज का पिट्ठू नहीं बन सकता। मुझे भारत से प्यार है, भारत की जनता की सेवा में रत हूं, यही मेरी राजनीति है, यही मेरी देशभक्ति है। इसमें रत्तीभर भी फर्क नहीं है। मित्र के नाते मैंने कटु सच्चाई लिख दी है।

भारत में अनेक देवी-देवता पूजे जाते हैं। ईश्वरवादी हैं, नास्तिक भी हैं। परन्तु सब अपने-आपको हिन्दू कहते हैं। मैं खुद तो आर्यसमाजी हूं, एक परमात्मा को मानता हूं, फिर भी अपने-आपको गर्व से हिन्दू कहता हूं। शैतान की पूजा, वीर-पूजा, नाग-पूजा, हनुमान-पूजा, पितर-पूजा, पशु-पूजा, वृक्ष-पूजा, कीड़ा-पूजा, पत्थर-पूजा, सूर्य-चंद्रमा-पूजा, धरती-पूजा, अतिथि सत्कार, सब पूजाएं, मान्यताएं हिन्दू धर्म के ताने-बाने में गुंथी हुई हैं। बौद्धिक विकास, आध यात्मिक विकास, जीवन के सब आश्रमों का विकास, सब प्रकार के रसों का विकास और इन सबका मिठास हिन्दू धर्म में पाया जाता है। पत्थर-कंकर घिसकर मिश्री बन जाते हैं। कड़वापन घुल-घुल कर अमृत जल बन जाता है। न घृणा, न द्वेष, न निहित स्वार्थ। सौंदर्य और भूंडापन साथ-साथ, अमीर-फकीर, चोर-जार-साहूकार, कातिल, चाण्डाल, किसान-मजदूर, दाता-भिखारी, राजा-रंक आदि सब हिन्दू। बुरी तरह से अस्पष्ट है, भयानक रूप से धकियाना है, चकित करने वाली व्यापक और आनन्ददायक लीला है - यहां कट्टरता नहीं है, जो अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार चलता/चलती है। एकता में अनेकता है। शक्तिशाली भी है और भुरभुरापन भी है। जुड़ता भी है, टूटता भी है, हमले भी होते हैं, परन्तु हारता नहीं, जिंदा रहता है। अमर है। पवित्र से पवित्र, गंदे से गंदी, पूजा - लिंग तक की पूजा, भूत-प्रेत की पूजा, जादू-टोने, जंत्र-मंत्र-षड्यंत्र, प्रपंच, कुचक्र, झाड़े, गंडे-डोरे, ऊंचे से ऊंचा देश, नीचे से नीचा पतन, ऊंचे विचार भी, नीचा व्यवहार भी, गंगा और गंदा नाले साथ-साथ बहते हैं। उपदेश भी, वासनाएं भी साथ-साथ, सीता भी, वेश्या भी। वीर भी, हिजड़ा भी।

युधिष्ठर भी, दुर्योधन भी, मुख भी, पूंछ भी। मानव जाति को और क्या चाहिए? सब कुछ हिन्दू धर्म में समाया हुआ है।

यद्यपि मैं कट्टर हिन्दू नहीं हूं और अंधविश्वास, फिजूल के ऊटपटांग रीति-रिवाजों को नहीं मानता हूं जो अब भी हिन्दू धर्म में मौजूद हैं, फिर भी इस ऊपर से वाहियात लगने वाले अंधविश्वास और पूजा में एक उपयोगिता देखे बिना नहीं रह सकता। जब तक मानव जाति जीवित है, तब तक इसकी अलग-अलग उपजातियों में, विचार और विश्वासों में भिन्नता तो रहेगी ही और उपजाति के अलग-अलग उपभागों में, विचारों के विकास में भी भिन्नता रहेगी। सब एक ही बौद्धिक स्तर पर नहीं पाए जाते। यहां तक कि एक छोटे से समूह में भी बुद्धि भेद पाया जाता है, कोई ज्यादा बुद्धिमान है तो कोई कम बुद्धिमान और कोई तो पूरा बुद्धू भी हो सकता है। यह अच्छा ही है कि मंदबुद्धि वाले मूढ़, गंवार भी अज्ञात शक्ति तक ज्ञान द्वारा पहुंच जाते हैं और अदृश्य शक्ति का दृश्य चीजों, देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के माध्यम से उस ईश्वरीय शक्ति का आभास कर सकते हैं। परमात्मा के विचार को मजाक में उड़ाना ठीक नहीं समझते। शर्त यह है कि पूजा की विधि में सच्चा विश्वास हो, पूरी आस्था हो, गहरी निष्ठा हो, दृढ़ धुन हो, अंतःकरण में वही भगवान बैठा महसूस हो, ध्यान में एकाग्रता हो। यही हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता की पुट है, पैठ है। कहते हैं इस विश्वास की नाव में बैठकर पापी भी तर जाते हैं। गंगा में गोता लगाने से सब पाप धुल जाते हैं। आत्मसमर्पण में ही जीवन दर्शन है। पाखंड, स्वांग, बगुलाभक्ति और चालबाजी यहां नहीं चलती। असीम से मेल करने के लिए सीमित शरीर और चंचल मन नियंत्रण करना पड़ता है। मैं आर्यसमाजी होने के नाते मूर्तिपूजा नहीं करता, परन्तु संध्या-हवन यज्ञ के माध्यम से उस परमशक्ति को याद करता हूं।

इस्लाम का अवतरण छठी शताब्दी के अंत में हुआ। बड़ी तेजी के साथ फैला। यह आश्चर्यजनक घटना थी। भारत पर मोहम्मद बिन कासिम, महमूद गजनवी, मोहम्मद गोरी, तैमूर लंग, बाबर, नादिरशाह, अब्दाली आदि ने हमले किए। उनके साथ इस्लाम भी आया। तलवार का जोर व दौर चला। कुछ सूफी संतों व पीर-फकीरों ने प्रचार किया। जैसे-तैसे इस्लाम भारत के नगरों व गांवों में फैलता। किसी भी कारण से बहुत से हिन्दू मुसलमान बन गए, जिसे वे ईमान मानते हैं। इस्लाम स्पष्ट मजहब है। जादू-टोने नहीं हैं। कोई रहस्यात्मकता नहीं है, तत्वविद्या नहीं है। न कोई दर्शन मीमांसा है। अल्लाह, कुरान शरीफ और पैगम्बर-मोहम्मद, मक्का-मदीना और काबा। मूर्तिपूजा पर प्रतिबंध, एकता पर जोर, जोर-शोर से इस्लाम भारत में भी फैला। महाराणा प्रताप तो अकबर के सामने सिर ऊंचा किए खड़ा रहा, लड़ता रहा। शिवाजी मराठा ने औरंगजेब के नाक में दम यहां तक कर दिया कि औरंगजेब ने उसे 'पहाड़ी चूहा' बताया। गुरु गोबिन्द सिंह को जुल्म के खिलाफ तलवार उठानी पड़ी। परन्तु साधारण मुसलमान साधारण हिन्दुओं के साथ मिलकर रहे। सह-अस्तित्व, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक व सांस्कृतिक बन गया। लोक-जीवन में लोक-व्यवहार मधुर बन गया। मजहब बेशक अलग रहे, परन्तु लोग मिल-जुल कर शांति के साथ रहने लगे। इस प्रकार इस्लाम बहुत सरल और व्यवहारिक है। इसका धार्मिक सिद्धांत सुस्पष्ट, सुनिश्चित, नियमनिष्ठ, यथार्थ है। एक अल्लाह, उसका पैगम्बर मोहम्मद वाक्य में इस्लाम का निचोड़ सुंदर ढंग से समा जाता है। यहां कोई लाग-लपेट, घटी-बढ़ी और टेढ़ी-मेढ़ी, जोड़-तोड़ और तोड़-मरोड़ घुमाव नहीं चलता।

मेरा विश्वास है कि इस्लाम का मुसलमानों पर प्रभाव, हिन्दू धर्म का हिन्दुओं पर प्रभाव अधिक गहरा है, अधिक जकड़ है - यहां तक कि कट्टरताई और संकीर्ण-विचारधारा तक पहुंच जाता है। मुसलमानों में बेजोड़ भाईचारा है। आपसी मेल-मिलाप है।

मैं इस्लाम का अंध-प्रशंसक नहीं हूं। राष्ट्रवादी, बुद्धिवादी, तर्कवादी और आत्मविश्वासी हूं -- अंधविश्वासी कतई नहीं हूं। सह-अस्तित्व, सहनशीलता, सहिष्णुता में विश्वास रखता हूं। सब मजहबों का आदर करता हूं, किसी से वैर या घृणा नहीं करता। फिर भी मैं इस्लाम के कुछ पहलुओं को विशेष पसंद करता हूं। बस 'एक अल्लाह है' बाकी सब गौण हैं। पत्थर पूजा कुफ्र है। सब आदमी समान हैं। बराबरी की शान हैं, ऊंच-नीच का नामोनिशान नहीं, बस ईमान से ही इंसान हैं, बाकी हैवान हैं, शैतान हैं। कुरान शरीफ में ही जहान है पैगम्बर मोहम्मद महान हैं, अल्लाह का संदेश ही ईमान है। ये सब पहलू प्रेरणा देते हैं। केवल मुसलमानों में ही सच्चा, वास्तविक और व्यवहारिक लोकतंत्र पाया जाता है। हिन्दू धर्म तो सर्वतंत्र है, रलमफलम है, स्वतंत्र है। झगड़ों की जगह नहीं है।

भारत में ईसामसीह का संदेश पहले-पहले यूरोप के मिशनरी पादरी लाए। विनम्रता और अति सहिष्णुता से भरपूर। पुर्तगाल ने बाहुबल दिया, मगर ईसाई मत ठस ही रहा। अंग्रेजों ने भी खूब शानदार गिरजे बनाए। कर्जन जैसे तानाशाह गवर्नर जनरल गिरजाघरों में जाकर शीश झुकाते थे। आज 45 लाख ईसाई भारत में हैं। जितना प्रचार पादरियों ने किया उतना फल मिला। मुसलमान और हिन्दू उधर नहीं झुके। अपने-अपने मजहबों से चिपके रहे। हिन्दुओं की ऊंची जातियां इससे दूर रहीं। गरीब हिन्दू उधर झुके। पादरियों ने स्कूल चलाए। मैं भी मिशन स्कूल और सेंट स्टीफेंस कालेज, दिल्ली में पढ़ा। सेंट एंड्रूज जैसे मेरे टीचर थे। उनके आग्रह पर मैंने 1907

में 'भारत के ग्रामीण जीवन का सुधार' लेख लिखा था जो सेंट स्टीफेंस मासिक पत्रिका में छपा। मुझ पर ईसाइयत का रंग न चढ़ सका। मैं वैदिकधर्मी आर्यसमाजी बना। आज भी हूं। राजनीतिक कारणों और अंग्रेजों के नकली अहंकार ने ईसाई धर्म के फैलने में बाधा डाली। भारतीय ईसाइयों की विशेषता से जो गरीब छोटी जातियों से ईसाई बने, वे यूरोपियों और भारतवासियों की दृष्टि में अब भी छोटे माने जाते हैं।

वैसे तो जो ईसाई बने, वे मजहबी तौर पर संतुष्ट हैं। पर वे अमानवीय व्यवहार और क्रूरता से अप्रसन्न हैं, तंग हैं। उनमें शिक्षा फैली, आत्म-सम्मान बढ़ा, स्वाभिमान आया। जागृति आयी, परन्तु धर्म-परिवर्तन की पीड़ा बनी रही। तवे से गिरा, आग में पड़ा वाली हालत बन गई। भारतवासियों से दूर रह गए, यूरोप द्वारा घृणित हुए। हिन्दू थे, तब शुद्र कहलाए। ईसाई मत स्वीकार किया, फिर भी दूसरों की नजर में नीचे ही रहे। जब हिन्दू थे, तो अज्ञान में अपना अपमान, नीचा स्थान चुपचाप सहन करते रहे। परन्तु अब ईसाई बनकर और पढ़कर फिर भी यह 'छोटापन' चुभन पैदा करता है। इस प्रकार भारत में हिन्दू गरीब शुद्रों में में ईसाई धर्म कोई आकर्षण नहीं रखता। भारत में ईसाई-मत इस्लाम की तरह नहीं फैल सका। ठप-ठप-सा, रुका-सा, सहमा-सा लगता है। इसका भविष्य धुंधला लगता है।

इस सिलसिले में एक बात और लिख दूं। हिन्दू धर्म के लचीलेपन और समय एवं स्थान के अनुसार अपने-आपको ढालने का गुण जो भूतकाल में बचाते रहे, अब फिर आगे आने लगे हैं। वर्तमान स्थिति को सावधानी से समझा जा रहा है। खतरा महसूस किया। 'शुद्धि' को अपनाया है। अस्पृश्यता हटाने लगे हैं। जो ईसाई, मुसलमान फिर हिन्दू बनना चाहें, उनका स्वागत करने लगे हैं। जैसे शंकराचार्य ने बौद्धों को फिर हिन्दू बनाया था, वैसे ही हिन्दू अब अपने मुसलमान व ईसाई बंधुओं को गले मिलाने लगे हैं। यदि हिन्दू न भी बने, तो कम से कम हिन्दुओं से घृणा तो न करें। मजहब बदला है, देश तो वही है, खून तो वही है। जाटों को ही लीजिए। कोई जाट मुसलमान हो गया, कोई सिख बन गया, कोई नास्तिक हो गया, कोई गरीबदासी आदि हो गया, मगर रहा तो जाट ही, खून तो वही रहा। वैसे जाट सब मजहबों, मत-मतांतरों, राष्ट्रों और वर्गों में पाए जाते हैं। जाट एकता में हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई सर्वधर्म एकता देखता हूं। फिरकापरस्ती का इलाज जाट एकता से शुरू किया और अब किसान एकता से दे रहा हूं। अंग्रेज भी अपने साम्राज्य को भारतीय एकता से स्थिर रखना चाहते हैं, अपनी वाहवाही बटोरना चाहते हैं, परन्तु हमारी राष्ट्रीय एकता हमें आजादी की ओर तेजी से ले जा रही है। इसे आप भारत में संकट समझते हैं। यहां कोई झंझट नहीं है। वतन एक है, जनता एक है, विभिन्नता में एकता स्पष्ट है। अमिट है। अंग्रेजी साम्राज्य का सूर्य इस तेजी से बदलती दुनिया में ढलता चला जावेगा। अंग्रेज भारतीय भावनाओं, आकांक्षाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते। अब डायर फायर नहीं कर सकते। कांग्रेस का हिंसक रास्ता साम्राज्यवादी अंग्रेज की समझ में नहीं आ सकता। महात्मा गांधी ने गोरे साहब का रौब खत्म कर दिया है। यूनियनिस्ट पार्टी ने धंधे के आधार पर राजनीति खड़ी कर दी, जिसमें किसान सर्वोपरि है और मजदूर किसानों का कुदरती साथी है। मजहब अपनी आध्यात्मिक जगह पर रहें, राजनीति अपने जनकल्याण पर टिके। अंग्रेज विचलित हैं। बस एक ही उपाय है - धीरे-धीरे या तेजी से भारतवासियों को राज सत्ता सौंप दे। जैसे व्यापारी बन कर आए थे, वैसे व्यापारी रहकर इंग्लैंड लौट जाएं और भारत को बराबर का देश मानें। खतरा एक ही है कि कभी मजहब के नाम पर हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों को आपस में भड़का न दें, लड़ा न दें। मगर सब सयाने हो गए हैं। सावधान हैं। 'बांटो और राज करो' की चाल को समझ चुके हैं। राष्ट्रीय नदी का बहाव तेज होने लगा है। आशा है कि समझदार अंग्रेज समय की गति की मांग को पढ़कर उसके अनुसार चलेंगे और शांति से, राजी-राजी अपने साम्राज्यवादी शिकंजा ढीला करते जावेंगे और जल्द ही सत्ता भारतवासियों को स्वतः सौंप देंगे। भारतीय सेना सारी स्थिति संभाल लेगी। भारत का अपना संविधान होगा जो गणतंत्र होगा। सभी मजहब, सभी बिरादरियां फले-फूलेंगी। भारत अपनी पुरानी शान में फिर आएगा। इतिहास अपने-आपको यूं दोहाराता है।

मैं पारसियों के मजहब के बारे में अनभिज्ञ हूं। पारसी अग्निपूजक हैं। उनका गुरु है। हिन्दुओं की भांति जनेऊ धारण करते हैं। गाय का आदर करते हैं, यद्यपि हिन्दुओं की भांति उसे माता नहीं मानतें हिन्दुओं ने पारसियों को घर दिया, प्यार दिया, अतिथि सत्कार दिया। वे फारस से भाग कर आए थे, यहां स्वागत किया। कृतज्ञता के तहत पारसियों ने जनेऊ धारण किया, गऊ का आदर किया।

अंग्रेज तो अपने देश में लोकतंत्री हैं, धर्म निरपेक्ष हैं, राष्ट्रवादी हैं और लिबरल हैं। भारत को भी इसी ढांचे में ढलने दें। अपना नस्ली अहंकार छोड़ दें। अनुभव सिखाता है कि कोई देश या कौम दबाए जा सकते हैं, मगर उनकी आत्मा जिंदा रहती है। भारत मजहबों का गढ़ है, फिर भी सब भारतवासी वतनपरस्त हैं। गुलामी को लानत, कलंक और लज्जाजनक समझते हैं।

भारत में कोई संकट नहीं है, अंग्रेजी साम्राज्यववादियों ने संकट खुद पैदा किया हुआ है। भारतवासी अपनी धार्मिक सद्भावना, मेल-मिलाप और राष्ट्रीय भाव के तहत इस संकट को पार करेंगे। ये इतिहास का नियम है, भारतीय संस्कृति का गुण है। यही भारत की नियति है।

■

पंचायती राज

अस्तित्व में आने की कहानी

अरुण तिवारी

22 नवम्बर, 1948 को श्री के. संतानम ने इस बाबत संशोधन प्रस्तुत किया। डा. अम्बेडकर ने इसे स्वीकृत कर अनुच्छेद-40 के रूप में संविधान का हिस्सा बना दिया। अनुच्छेद-40 में लिखा गया-'राज्य, ग्राम पंचायतों को संगठन करने के लिए कदम उठाएगा और उन्हें ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान करेगा, जो स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।'

ग्रामसभा, पंचायती राज की आत्मा है और ग्राम पंचायत, पंचायती राज का आवरण। कितना दुखद यहां यह लिखना है कि भारत की प्रथम संविधान सभा ने न भारत के गांव समाज की आत्मा को समझा और न आवरण को (बावजूद इसके कि संविधान बनाते वक्त, संभवतः संविधान सभा के किसी सदस्य ने ही राष्ट्रपिता को चिट्ठी लिखकर इस ओर ध्यान भी दिलाया। राष्ट्रपिता गांधी ने भी सुझाव को अनुकूल टिप्पणी के साथ 'हरिजन' अखबार में प्रकाशित कर आगे बढ़ाया। पंचायती राज की संकल्पना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा कि भारत के सात लाख गांवों की आजादी के बगैर, भारत की आजादी अधूरी है। आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। गांवों की आजादी से उनका मतलब था, अपने बारे में खुद सोचने, निर्णय करने और अपने द्वारा किए गए निर्णय को खुद ही क्रियान्वित करने की आजादी। इससे चेते डा. राजेंद्र प्रसाद ने संविधान सभा के अध्यक्ष के तौर पर 10 मई, 1948 को संविधान सभा में दिए अपने भाषण में विचार भी दिया कि संविधान का ढांचा, ग्राम पंचायतों तथा अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के अनुसार खड़ी की गई मंजिलों पर आधारित होना चाहिए। मुद्दे पर बहस हुई। सैंकड़ों संशोधन प्रस्तुत किए गए, किंतु अंत में सभा के संवैधानिक सलाहकार श्री वी एन राव ने समयाभाव का तर्क देकर, मसले को संघ और राज्य विधायिकाओं के विचारार्थ छोड़ सलाह दे डाली। संविधान सभा ने इसे मान भी लिया। 22 नवम्बर, 1948 को श्री के. संतानम ने इस बाबत संशोधन प्रस्तुत किया। डा. अम्बेडकर ने इसे स्वीकृत कर अनुच्छेद-40 के रूप में संविधान का हिस्सा बना दिया। अनुच्छेद-40 में लिखा गया-'राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाएगा और उन्हें ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान करेगा, जो स्वायत्त शासन को इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।'

गौरतलब है कि संविधान में 'राज्य' शब्द की व्याख्या, भारत की सरकार, संसद, राज्यों में से प्रत्येक राज्य की सरकार, विधानमंडल तथा भारत के नियंत्रण के अधीन सभी स्थानीय और अन्य प्राधिकारी (अनुच्छेद-12) के तौर पर की गई है। संवैधानिक व्याख्या के खिलाफ, पंचायतों को प्रांतीय सरकारों के रहमोकरम पर छोड़ दिया गया। तब से अब तक पंचायतें, राज्यों के रहमोकरम पर ही हैं। 'स्वशासन की इकाइयों' का मतलब भी अलग-अलग रहकर काम करना मान लिया गया, जबकि इसका मतलब पंचायतों को स्वशासन की वृहत्तर इकाइयों का अंग बनाना था। संविधान सभा की चूक और अनुच्छेद की गलत व्याख्या का नतीजा यह हुआ कि नए भारत के निर्माण में पंचायतों के माध्यम से ग्राम स्वराज हासिल करने का गांधी का सपना, सपना ही रह गया।

संभवतः यह इसलिए हुआ कि जिस आम आदमी की आजादी के लिए आजादी का संघर्ष हुआ, उस आम आदमी के परम्परागत क्षमता, कौशल और ज्ञान पर हमारे संविधान निर्माताओं को विश्वास ही नहीं हुआ।

हालांकि, कालांतर में प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरु का बयान भी आया कि दलील दी जाती है कि किसान अधिक जानता नहीं, किंतु यह दलील बुनियादी तौर पर गलत है। उन्होंने इस दलील को गलत साबित करने की कोशिश भी की। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के असफलता ने सबक सिखाया।

मई, 1956 में विकास आयुक्तों के कार्यक्रम में बोलते हुए सामुदायिक विकास कार्यक्रम की समीक्षा करते हुए पंडित नेहरु ने कहा - 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम लाजमी तौर पर ग्राम पंचायतों और सहकारी समितियों के साथ पूरा तालमेल होना चाहिए। इन सब मामलों पर हमें लोगों की पहल को जगाना चाहिए, ताकि वे सरकारी एजेंसियों के मुकाबले कहीं ज्यादा खुद पर भरोसा कर सकें।' कह सकते हैं कि 1956 वह वर्ष था, जब शासन

हरियाणा सरकार ने हरियाणा पंचायती राज अधिनियम 1994 की धारा 175 जिसमें पंचायती राज संस्थाओं में चुनाव लड़ने के लिए पहले से ही कई अयोग्यताएं हैं, उसमें 5 नई अयोग्यताएं भी शामिल कर दी, जोकि इस प्रकार हैंः

1. दस साल या दस साल से अधिक सजा के अपराधों में शामिल व्यक्ति जिस पर न्यायालय में आरोप तय हो चुके हों।

2. प्राथमिक कृषि सहकारी समिति, जिला केंद्रीय सहकारी बैंक एवं जिला प्राथमिक सहकारी कृषि ग्रामीण विकास बैंक के किसी देय (बकाया) को अदा करने में विफल रहता है।

3. बिजली बिल के बकाया का भुगतान करने में विफल हो।

4. किसी मान्यता प्राप्त बोर्डध् संस्था से दसवीं और इसके समकक्ष परीक्षा पास न की हो।

-महिलाओं और दलित पुरुषों के मामले में न्यूनतम योग्यता आठवीं कक्षा होगी।

- अनुसूचित महिला के मामले में पंच पद के लिए न्यूनतम योग्यता 5वीं होगी।

5. घर में क्रियाशील शौचालय हो।

विक्रम मित्तल

मोः 94662-85311

को वाकई ग्राम पंचायतों की जरूरत महसूस हुई। जनवरी, 1957 बलवंतराय मेहता समिति गठित कर दी गई। समिति ने 24 नवम्बर, 1957 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। मेहता समिति ने गांव, ब्लाक, जिला... त्रिस्तरीय पंचायत प्रणाली की स्थापना, पंचायतों को वास्तविक सत्ता और दायित्वों का हस्तांतरण, उचित वित्तीय साधन तथा सभी ग्रामीण विकास कार्यक्रमों एवं योजनाओं के क्रियान्वयन का दायित्व सौंपने की सिफारिश की। इसे स्वीकारा गया। आगाज जोरदार भी हुआ, किंतु प्रांतीय सरकारों द्वारा तवज्जो न दिए जाने के कारण फिर सन्नाटा छा गया। 'कुरुक्षेत्र पत्रिका' के अक्तूबर 1960 के अंक में जय प्रकाश नारायण ने सामुदायिक विकास कार्यक्रम के विरोध में हो रहे आंदोलनों का संदर्भ रखते हुए इस पर सकारात्मक टिप्पणी भी की। उन्होंने सहभागी लोकतंत्र के रूप में ग्राम पंचायत की अवधारणा प्रस्तुत की। प्राख्यात समाजवादी विचारक - राममनोहर लोहिया जी गांव, जिला, राज्य और केंद्र...चार समान प्रतिभा और सम्मान वाले खंभों वाले चौखंभा राज्य की अपनी परिकल्पना को आगे बढ़ाने के प्रयास करते रहें भूदान के जनक-संत विनोबा ने 'ग्रामराज के तालाबों में, आजादी का कमल खिले...' जैसी पंक्तियों के माध्यम से गांवों को गोकुल बनाने का चित्र बनाया इस बीच 1978 में बनी अशोक मेहता समिति ने भी यह सुझाव देकर शासन का ध्यान खींचने की कोशिश की कि अधिकारी और कर्मचारी, जन प्रतिनिधियों के प्रति किसी भी प्रकार उत्तरदायी नहीं हैं। अतः इन अधिकारियों को गांवों की निर्वाचित पंचायत के माध्यम से ग्रामसभा के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए। समिति ने क्षेत्र और जिला पंचायतों को पर्याप्त महत्व देने की सिफारिश भी की।

गांवों की आजादी की वकालत का यह दौर आगे भी जारी रहा। 1985 में जे.वी.के. राय समिति ने राज्य की शक्तियों को स्थानीय लोकतांत्रिक संस्थाओं को हस्तांतरित करने की सिफारिश की। 1986 में गठित डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी समिति ने संविधान में एक नया अध्याय जोड़कर पंचायतों को संवैधानिक तौर पर मान्यता, संरक्षण और स्थायित्व प्रदान करने की सिफारिश की। इसके लिए समिति ने गांवों के पुनर्गठन पंचायत को स्वशासन इकाई के रूप में प्रतिष्ठित करने, पर्याप्त संसाधन उपलब्ध कराने और पंचायतों के लिए अलग से पंचायती राज न्यायिक अभिकरण बनाने के सुझाव भी दिए। समिति की सिफारिशों के आधार पर राजीव गांधी के नेतृत्व वाली तत्कालीन सरकार ने पहल की। पंचायती राज का नया मसौदा तैयार किया।प्रस्तुत मसौदा, 64वें संविधान संशोधन के तौर पर 10 अगस्त, 1986 को लोक सभा द्वारा मंजूर भी कर लिया गया, किंतु राज्य सभा ने इस विधेयक को अनमोदित नहीं किया। इस नामंजूरी की एक बड़ी वजह यह थी कि इस मसौदा की सदन में प्रस्तुति से पूर्व अलग-अलग अवसरों पर प्रस्तुत की गई मंशा सचमुच बहुत क्रांतिकारी थी। फिर सत्ता बदल गई। विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाली सरकार इस मसौदे पर कुछ नहीं कर सकी। 1991 में प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव ने राजीव गांधी के सपने को आगे बढ़ाते हुए 73वां संविधान संशोधन का प्रस्ताव लोक सभा में प्रस्तुत कर दिया। विधेयक, संयुक्त संसदीय समिति के पास गया। समिति के सुझावों के बाद 22 दिसम्बर, 1992 को लोक सभा ने अपनी मंजूरी मोहर लगा दी। 24 अप्रैल, 1993 से पंचायती राज का नया कानून लागू हो गया। इस नए कानून के अनुरूप, राज्य स्तरीय पंचायत अधिनियमों को नए कानून के अनुरूप संशोधित करने के लिए राज्यों को एक वर्ष का समय दिया गया।

साभार : सोपानSTEP,दिसम्बर 2015

पहाड़ में कायांतरित होता आदमी

कमलानंद झा

पहाड़ पुरुष दशरथ मांझी के व्यक्तित्व ने एक बार फिर यह सिद्ध किया है कि ज्ञान, बुद्धिमत्ता और गहन संवेदनशीलता सिर्फ औपचरिक शिक्षा की मोहताज नहीं। अक्षर की दुनिया से सर्वथा महरूम दिहाड़ी मजदूर दशरथ मांझी के अविश्वसनीय सामाजिक कर्म ही नहीं बल्कि समय-समय पर कहे गए उनके सूत्र वचन ज्ञान-गरिमा से मंडित पंडितों और विद्वानों को भी चकित करने वाले हैं। इनमें कुछ सूत्र वचनों का रचनात्मक उपयोग केतन मेहता ने उनके चरित्र पर बनी फिल्म 'मांझी द माउंटेन मैन' में किया है। ईश्वर के प्रति पूर्ण आस्थावान दशरथ मांझी कर्मों के प्रति ईश्वर पर भरोसा करने वालों के लिए सिनेमा के अंत में कहते हैं, 'भगवान के भरोसे मत बैठो क्या पता वह तुम्हारे भरोसे बैठा हो'। इन पंक्तियों का लेखक जब गहलौर गया तो गांव वालों ने बताया कि जब मांझी की सोहरत चारों तरफ फैल गयी थी तो एक पत्रकार के पूछने पर कि आप अपने बच्चों के लिए क्यों नहीं कुछ करते हैं तो उन्होंने कहा था कि 'पहाड़ काटकर जो रास्ता मैंने बनाया है उस रास्ते से जो भी गुजरेंगे वे मेरे बेटा पुतोहु (बहू) होंगे।' वे बराबर कहते कि, 'मुझे कभी भी पहाड़ आदमी से ऊँचा नहीं लगा।' ये वक्तव्य हैं एक ऐसे निरक्षर इंसान के जिसने कभी स्कूल कॉलेज का मुंह नहीं देखा। जिसके हौंसले इतने बुलंद थे कि अपने अथक परिश्रम से गांव की तकदीर बदल दी।

केतन मेहता की फिल्म 'मांझी द माउंटेन मैन' दशरथ माँझी और उनकी पत्नी फगुनी के श्रम सौंदर्य और उदात्त प्रेम की विराट् फिल्म-कथा है। दशरथ मांझी की अद्भुत प्रतिज्ञा और विलक्षण प्रेम की कलात्मक अभिव्यक्ति। सामान्यतया किसी चरित्र पर बनाई गई फिल्म (बायोपिक) का अभिजात्य मिजाज होना स्वाभाविक है, क्योंकि किसी प्रसिद्ध चरित्र पर ही बायोपिक बनाने का रिवाज रहा है। केतन मेहता ऐसे विरल फिल्मकारों में एक हैं जो दशरथ मांझी जैसे 'साधारण' व्यक्ति पर असाधारण फिल्म बनाने का साहस जुटा सकते हैं। दशरथ मांझी का व्यक्तित्व भले ही कितना ही असाधारण क्यों न हो किंतु उनके चरित्र में आज के चकाचौंध पूर्ण माहौल के अनुसार टिपिकल व्यावसाकिता की गुंजाइश नहीं थी। केतन मेहता ने अपनी गंभीर निर्देशकीय दृष्टि से फिल्म को रोचक ही नहीं प्रासंगिक भी बना दिया है। और यही वजह है कि व्यावसायिक दृष्टि से भी यह फिल्म सफल मानी जा रही है।

यह सुनने में भले अटपटा लगे किंतु इसमें दो राय नहीं कि गया जिला के गहलौर गाँव और कस्बा वजीरगंज के मध्य बने 'दशरथ माँझी' पथ का मयार ताजमहल से बहुत अधिक है। निःसंदेह ताजमहल प्रेम की अद्भुत निशानी है। और सैकड़ों वर्षों से ताजमहल प्रेम करने वालों को प्रेरणा देता आ रहा है। किंतु मुमताज की याद में बने ताजमहल निर्माण में शाहजहां को कोई श्रम नहीं करना पड़ा था। शाहजहां ने जनता के करोड़ों रूपये की गाढ़ी रकम अपने प्यार को अमर दास्तान बनाने में झोंक दिया। इतिहासकार जानते हैं कि मध्यकाल की छद्म समृद्धि और संपन्नता के पीछे आम जनता की माली हालत कितनी पस्त थी। तात्पर्य यह कि ताजमहल के रूप में प्रेम की निशानी ने जनता के सुख और सपनों में कोई इजाफा नहीं किया। इसके विपरीत अगर यह लोकोक्ति सही है कि शाहजहां ने मुख्य शिल्पी के हाथ कटवा लिए थे, तो सत्ता और कला के शोषणपरक रिश्ते को समझना कठिन नहीं है। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', जगदीश चंद्र माथुर के नाटक 'कोणार्क' तथा सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'काटना शमी का वृक्ष पद्म पंखुड़ी की धार से' आदि में कला और कलाकार के प्रति सत्ता की निरंकुशता को बेबाकी से उद्घाटित किया गया है। सदियों से सत्ता का मद कला और कलाकारों के साथ इस तरह का भद्दा मजाक करता रहा है। दूसरी बात यह है कि राजा, सामंत और संपन्नता से लैस फुरसती वर्गों के जीवन में प्रेम का नाट्य, समारोह और पाखंड अधिक होता है। किंतु माँझी जैसे मशक्कती समाज में प्रेम कहीं अधिक उर्जस्वित और गतिशील होता है। साथ-साथ श्रम सीकर बहाने से जो प्रेम का स्वरूप निर्मित होता है, वह सुसज्जित, सुकोमल सेज पर सिर्फ साझीदारी करने से उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इस अर्थ में 'मांझी द माउंटेन मैन' श्रम-सिक्त प्रेम की, प्रेम में अपार धैर्य की और प्रेम की एक सर्वथा नयी परिभाषा गढ़ने की आकुल छटपटाहट का दूसरा नाम है।

सभी तरह का प्रेम अपने आप में महान होता है-'प्रेमा पुमर्थो महान। किंतु एकांतिक प्रेम और पूर्ण समर्पित प्रेम के बरअक्स कुछ विरल प्रेम ऐसे होते हैं जो प्रेम की जमीन को विस्तार

प्रदान करते हैं। उनका प्रेम निजता का अतिक्रमण कर बृहत्तर समाजिक चिंताओं से गहरे जुड़ जाता है। दशरथ माँझी का प्रेम ऐसा ही 'अनूप प्रेम' था। इसी प्रेम ने दशरथ माँझी को वह बुलंद हौसला दिया जिसके सामने पहाड़ भी बौना हो गया। माँझी ने प्रतिज्ञा ली कि अस्पताल दूर हाने के कारण अगर मेरी पत्नी मर सकती है तो मैं पहाड़ को काटकर रास्ता बनाउंगा जिससे आगे गांव में किसी की भी पत्नी इस दूरी की वजह से हमेशा-हमेशा के लिए ना बिछुड़े। मांझी की यह दृढ़ प्रतिज्ञा व्यष्टि से समष्टि के रूपांतरण की कथा भी है। तभी तो उन्होंने अपने ऊपर बने एक वृत्तचित्र में कहा कि, ''मैंने यह काम पत्नी के प्रेम में आरंभ किया था किंतु इसका रूपांतरण ग्रामीणों के लिए होता चला गया।'' पत्नी फगुनी की याद में उन्होंने 22 वर्षों तक यानी सन् 1960 से लेकर सन् 1982 तक घर-परिवार, नाता-रिश्ता ही नहीं खाने-पीने तक की चिंता छोड़ 360 फुट लंबा, 30 फुट चौड़ा तथा 25 फुट ऊँचाई तक पहाड़ काट कर ही दम लिया और गहलौर से वजीरगंज की दूरी काफी कम कर दी। सत्तर किलोमीटर की दूरी को एक शख्स ने अकेले पांच किलोमीटर में तब्दील कर बच्चों के लिए स्कूल, बीमारों के लिए अस्पताल, दिहाड़ी के मजदूरों के लिए कस्बा को नजदीक ला लिया। मांझी ने गहलौर गांव में उम्मीद की नयी किरण बिखेर दी।

दशरथ मांझी की धुन ने अमीर खान और केतन मेहता से पहले भी कई गंभीर मीडियाकर्मियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। कुमुद रंजन ने अपने निर्देशन में दशरथ मांझी के जीवन पर फिल्म प्रभाग के सौजन्य से 'द मैन हू मूव्ड द माउंटेन' नामक वृत्तचित्र बनाया था। वृत्तचित्र के अनुसार बिहार सरकार ने पद्म श्री सम्मान के लिए उनके नाम की अनुशंसा की थी किंतु वन मंत्रालय के विरोध के कारण उन्हें यह सम्मान नहीं मिल पाया था। तत्कालीन वन मंत्रालय ने उनके कार्यों को अवैध ठहराया था। यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना इस बात का सूचक है कि कई बार नियम-कानून भी लकीर के फकीर हो जाते हैं। वे कार्यों की गंभीरता और उसकी सार्थकता न देखकर केवल ठस नियम ही देखते हैं। केतन मेहता इस सवाल को विमर्श में तब्दील कर सकते थे कि जब पहाड़ माफिया लगातार न जाने कितने पहाड़ को काटकर खा रहे होते हैं, उस समय वन मंत्रालय क्या कर रहा होता है। आज भी प्रतिदिन युवा कवि अनुज लुगुन के शब्दों में कभी नदी तो कभी जंगल तो कभी पहाड़ ट्रक पर लादे जाते हैं, तो वन मंत्रालय की खामोशी क्यों नहीं टूटती है। लेकिन जब दशरथ मांझी गांव के अंधेरे को दूर करने के लिए रोशनी उगाने का एक जतन करते हैं, तो वन मंत्रालय को नियम-कानून की जटिलता नजर आती है। निर्देशक केतन मेहता की वरीयता उस समय के सामाजिक -राजनीतिक संदर्भों से दशरथ मांझी की संघर्ष गाथा को जोड़ने की नहीं थी। अगर वे दशरथ मांझी के युवाकाल के लटके झटके न दिखाकर उस गांव के पिछड़ेपन की पड़ताल में घोर सामाजिक विषमता और पहाड़ की ओट में दमन और शोषण का खुला खेल खेलने के षड्यंत्र को अनावृत्त कर पाते तो निश्चित रूप से फिल्म की कलात्मकता बढ़ जाती। यह अकारण नहीं है कि उस समय भी मांझी के पहाड़ काटने का विरोध एक खास तरह के लोग कर रहे थे। लेकिन दशरथ मांझी जैसे सपना देखने वालों के लिए सम्मान का कोई मतलब ही नहीं होता। तभी तो उन्होंने उक्त वृत्तचित्र में कहा कि, मैं सम्मान और पुरस्कार की चिंता नहीं करता हूं। मेरी चिंता स्कूल, हॉस्पीटल और सड़क की है। मेरा परिश्रम बच्चों और औरतों की मदद करेगा।''

आज की तारीख में भीष्म प्रतिज्ञा मुहावरे के स्थान पर 'मांझी प्रतिज्ञा' अधिक प्रासंगिक प्रतीत होती है क्योंकि जहां भीष्म प्रतिज्ञा में एक पराक्रमी व्यक्ति को कौरवों के साथ रहने के लिए विवश किया वहीं मांझी प्रतिज्ञा ने एक पूरे गांव की ज़िदगी बदल दी। आज मुहावरे और लोकोक्ति में सांस्कृतिक हस्तक्षेप की आवश्यकता है। यह अकारण नहीं कि अधिकांश मुहावरे और लोकिक्त उच्च वर्गों को महिमामंडित करते हैं, वहीं निम्न वर्गों के महत्व प्रतिपादन पर आपको शायद ही कोई मुहावरा या लोकाक्ति मिले, लेकिन उन्हें हीन दर्शाने वाले मुहावरे आपको सहज ही मिल जायेंगे। मुहावरे और लोकाक्ति कुछ दिनों में बनने वाली चीजें नहीं होतीं है। लेकिन यह भी सही है कि समय के साथ नये मुहावरे भी बनाए जा सकते हैं। आज के आधुनिक चित्त को यह मुहावरा सहज स्वीकार्य हो सकता है।

मांझी द माउंटेन मैन का प्रेम दुनिया को अधिक से अधिक हसीन बनाने के जज्बे से ही संभव है। 'प्रेम बिछोही ना जिए जिए तो बावर होय' का रास्ता छोड़ दशरथ मांझी ने पत्नी की याद में दुनिया और समाज के लिए कुछ कर गुजरने का रास्ता अख्तियार किया। दशरथ मांझी का प्रेम हमें सिखाता है कि अपने प्रेम को यादगार बनाने के लिए अगर आप दुनिया को खूबसूरत बनाने का सपना संजोते हैं तो यह प्रेम का अत्यंत उदीप्त और कल्याणकारी रूप है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कैंसर के इलाज की खोज और एटीम का आविष्कार ऐसे ही जुनूनी प्रेम के उदाहरण हैं।

दाम्पत्य प्रेम पर अच्छी फिल्म बनाना अत्यंत चुनौतीपूर्ण कार्य है। यही वजह है कि दांपत्य प्रेम पर आपको अच्छी फिल्म देखने को शायद ही मिले। विवाह पूर्व या परकीया प्रेम के फिल्मांकन में कल्पना की उड़ान लेने में सहूलियत होती है, रोमांस के विविध आयामों को दर्शाने का खुला आकाश मिलता है,वहीं दांपत्य प्रेम को फिल्माने में एकरसता का भय बना रहता है। केतन

मेहता ने अत्यंत कुशलता से दांपत्य प्रेम में सघन रोमांस का अद्भुत सृजन किया है। फिल्म समीक्षक जयप्रकाश चौकसे ने ठीक ही लिखा है कि केतन मेहता ने 'फगुनी-मांझी प्रेम को कविता की तरह रचा है।' इस प्रेम में कशिश है, आतुरता है, आवेग है, और है अपने आपको एक दूसरे पर न्योछावर कर देने की तत्परता। प्रेम के नितांत निजी क्षणों में मिट्टी और कीचड़ का कलात्मक उपयोग दृश्य को कहीं से भी अश्लील नहीं होने देता है। पहाड़ काटने के मध्य फगुनी की बार-बार प्रेमिल याद उन्हें प्रेरणा देती है। कवि नागार्जुन के शब्दों में

घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल
याद आता है तुम्हारा सिंदूर तिलकित भाल
और इसलिए
कर गई चाक
तिमिर का कोना
जोत की फांक
यह तुम थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि केतन मेहता अत्यंत संजीदे निर्देशक हैं। उनकी सिनेभाषा लीक से हटकर होती है। उनकी फिल्मों में सामान्यतया चरित्रों की अपेक्षा कैमरा ज्यादा बोलता है। और यह काम तब और भी कठिन हो जाता है जब आप ऐसे चरित्र पर फिल्म बना रहे हों, जो सदियों से अभिव्यक्ति का संकट झेल रहा हो। कैमरे का अधिकतम उपयोग एक ओर उनकी विवशता थी तो दूसरी ओर चुनौती भी। और इस चुनौती का सामना उन्होंने अत्यंत कुशलता और सर्जनात्मकता के साथ फिल्म के केंद्र में पहाड़ को रखकर किया। फिल्म में पहाड़ सहनायक की भूमिका में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जिस तरह फणीश्वरनाथ रेणु ने मैला आंचल में बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज अंचल को ही कथा नायक बना दिया उसी तरह केतन मेहता ने गहलौर के पहाड़ को सिनेमा में नायकत्व प्रदान किया है। पहाड़ को केंद्र में रखकर केतन मेहता ने कैमरे के उपयोग से अत्यंत दक्षतापूर्वक पहाड़ और दशरथ मांझी के बीच अनकहा असीम प्रेम के रिश्ते को भी दिखा दिया है।

इसमें दो राय नहीं कि दशरथ मांझी को पहाड़ से उतना ही प्रेम था जितना पत्नी फगुनी से। कदाचित उससे भी ज्यादा। क्योंकि मां की कोख से निकलते ही उन्होंने पहाड़ को बहुत निकट से देखा था, उसे छूआ था और बहुत गहराई से उसका एहसास किया था। केतन मेहता अपनी सूक्ष्म निर्देशकीय दृष्टि से इस विडंबना और द्वंद्व को दिखाने में पूर्ण सफल रहे हैं कि एक तरफ दशरथ मांझी पहाड़ को काट भी रहे हैं और उससे बेइंतहा प्यार भी कर रहे हैं। इतना प्यार कि उनके और पहाड़ के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। दो शरीर एक आत्मा की तरह। दशरथ मांझी की आत्मा पहाड़ में ही बसती थी और यह प्रेम उनके प्रकृति प्रेम का परिचायक था। लेकिन प्रेम की यह भाषा वन मंत्रालय के समझ से परे है। उन्होंने यह काम कैमरे की सहायता से कभी पहाड़ का क्लोज अप, कभी मिड शॉर्ट, कभी शोर्ट शॉट आदि के द्वारा किया है। और इसी क्रम में निर्देशक ने पहाड़ से असीम प्रेम की संभावना को दर्शाने के लिए दशरथ मांझी का कायांतरण पहाड़ के रूप में होते हुए दिखाया है।

बयोपिक फिल्म बनाना खांडे की धार पर चलने के समान है। तथ्य और कल्पना का समुचित सामंजस्य बैठाना इस तरह की फिल्मों के लिए बड़ी चुनौती होती है। इन दोनों की संतुलित आवाजाही जहां फिल्म को उत्कृष्टता प्रदान करती है, वहीं तथ्यों की अनभिज्ञता या फिसलन फिल्म को कमजोर कर जाती है। फिल्म में कई ऐसे गलत तथ्य दिखाए गए हैं जिसे सही दिखाने से फिल्म की गुणवत्ता में कोई कमी नहीं आती। मसलन जिस समय (1970-71) इंदिरा गांधी गया आयी थीं उस समय उनका चुनाव चिह्न गाय-बछड़ा था न कि हाथ छाप। जिस समय दशरथ मांझी दिल्ली के लिए रवाना होते हैं, उस समय वजीरगंज से डीज़ल इंजन की रेलगाड़ी नहीं चलती थी न पैंसेजर ट्रेन में सजे-धजे टीटी हुआ करते थे। केतन मेहता आसानी से गहलौर के वास्तविक पहाड़ पर नवाजुद्दीन सिद्दिकी को पहाड़ काटते दिखा सकते थे। असली वजीरगंज रेलवे स्टेशन को दिखलाना भी कठिन नहीं था। जिस तरह के मेले के दृश्य का सृजन उन्होंने फिल्म में किया है, गांव वाले बताते हैं कि इस तरह का मेला इधर नहीं लगता। दरअसल सही तथ्य बायोपिक फिल्म को विश्वसनीय बनाता है। केतन मेहता जैसे उत्कृष्ट निर्देशक जिन्होंने हिंदी फिल्म के इतिहास को मिर्च-मसाला, भवनी-भंवई, माया मेमसाहब जैसी कई बेहतरीन कलात्मक फिल्में दी हैं। इन्होंने मंगल पाण्डेय और सरदार पटेल पर बहुत अच्छा बायोपिक भी बनाया है। उनसे इस तरह की भूल सिर्फ चौंका ही सकती है।

'मांझी द माउंटेन मैन' को लंबे समय तक कई कारणों से याद किया जाएगा। सामाजिकता से सराबोर एक साधारण दलित दांपत्य प्रेम कथा को लोकप्रिय बनाने तथा एक प्रेरणाप्रद सच्ची घटना को अत्यंत गहरे सूझ बूझ के साथ आम जन तक पहुंचाने के लिए तो इसे याद किया ही जाएगा साथ ही नवाजुद्दीन सिद्दिकी की दमदार भूमिका के लिए भी यह फिल्म यादगार बनी रहेगी।

अध्यक्ष, भारतीय भाषा केंद्र
दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया-8521912909

जसबीर सिंह लाठरों की कविता

किसान

दीप नहीं, दिल जलेंगें ख़ाली
फ़सलों की हुई ऐसी बदहाली
खेती जो छोड़ देगा किसान
देश में कैसे रहेगी खुशहाली?

हर तरफ महानगरों में फैला उजाला
किसानों का ही निकला दिवाला
महानगर सजे ज्यों दुल्हन-दूल्हा
गाँवों में किसानों का,ठंडा पड़ा है चूल्हा

व्यापारी वर्ग काला धन जुटाता
विदेशों में जाता और जश्न मनाता
लाचार किसान क़िस्मत को रोता
उम्र-भर सूदख़ोरों का क़र्ज़ ही ढोता

बाज़ारों में दुकानदार लूटते चाँदी
पैसों की उन पर बरसती है आँधी
पर किसानों के खेत पड़े हैं ख़ाली
बिकने लगे हैं उनके,रिपर-रूटावेटर, ट्रैक्टर-ट्राली

मिलावट कर बेचते,नक़ली खोया-मिठाई
मिठाई वाले करते खूब काली कमाई
किसानों की है ये दर्द भरी कहानी
उनके दूध से महँगा, बिके शहरों में पानी

किसानों की भूमि भू-माफ़िया बिकवाता
ज़मीनी सौदे में रोज़ करोड़ों कमाता
कौड़ियों का भाव किसान को जाता
उपजाऊ भूमि पर कॉलोनी कटवाता

देख किसानों की ऐसी बदहाली
जसबीर कहता ये बात निराली
देश के किसान जब होंगें. खुशहाल
देश में होगी तब असली खुशहाली!!

टैटू

ये कैसा फैशन आया है, जिसको देखो उसी ने टैटू गुदवाया है
जिसकी हड्डियों पे माँस नहीं है उसने नरसिम्हा का टैटू बनवाया है

किसी ने अपनी हथेली पर टैटू से फूलों की बेल खिलाई है
किसी ने अपने पैरों पर रंगीन तितली उड़ाई है

किसी ने गर्ल्फ्रेंड का नाम लिखवाकर, प्यार की रस्म निभाई है
किसी ने अपनी गोरी चमड़ी टैटू से काली करवाई है

किसी ने काली भुजाओं पर काले रंग का बिच्छू बनवाया है
दोनों का रंग काला होने पर नज़र नहीं वो आया है

कोई स्पाइडर मैन का टैटू छपवाकर, हरदम उड़ने को रहता है
खुद को सुपर हीरो समझकर कीचड़ के गढ्ढे में ढहता है

कोई अंडर टेकर का टैटू बनवाकर ग्रेट खली को ललकारता है
ग्रेट खली अपने दुश्मन को पटक-पटक के मारता है

किसी ने चेहरे पर जंगली बिल्ली बनवाकर, अपना रूप बिगाड़ा है
किसी ने अपनी सिकुड़ती छाती पर त्रिशूल का टैटू गाड़ा है

कोई नाक पर ड्रैगन छपवाकर मेड इन चाईना सा दिखता है
कोई गर्दन पर साँप बनवाकर सपेरा बना सा फिरता है

कोई अपने कुल्हों पर हीरोइन की फ़ोटो गुदवाता है
कोई अपनी कमर पर बाज़ बना टैटू दिखाता है

किसी ने मोटे पेट पर शंकर का डमरू बनवाया है
दारू पीकर, हुड़दंग मचाकर हरिद्वार से कावड़ लाया है

कोई अपनी बाँहों पर बब्बर शेर बनवाना चाहता है
उसके कमज़ोर डोलों पर केंचुआ ही बन पाता है

कोई हाथों पर ओइम् तत्सत लिखवाकर प्रेम-सौहार्द का सन्देश लाता है
कोई धर्म के ठेकेदारों का टैटू बनवाकर समाज में आग फैलाता है

देश के नौजवानों को जस्सबीर तुम ये फ़रमाओ
भगत सिंह और चन्द्रशेखर का टैटू भी तुम बनवाओ

सम्पर्क : 94161-12638

अमृतलाल मदान की कविता

भीष्म साहनी की स्मृति को समर्पित -

गूँगा बना दिया गया था मुझे
और लँगड़ा भी
धर्म-संचालित पिछले भूचाल द्वारा
आओ तुम भी देखो जो मैं देख रहा हूँ
तड़ाक से खुल गयी इस टूटी खिड़की से
दूर उठता वो काला बवंडर
बड़े बड़े धर्म ग्रंथों से बंद बाड़ों के फाटक
अचानक खोल दिये गये हैं,
सायों के द्वारा
मुखौटे पहने हैं जो, दस्ताने भी
नयी दास्तानें गढ़ने को गरमाई गयी हवाओं के बीच ।

साफ-साफ देख रहा हूँ
जुनूनी मुखौटों-नकाबों से उभरते नुकीले सींग
आँखों के लाल-लाल बिफरे साँड
तलवारों सी तनी उनकी पूँछें
अकड़े रक्त से सनी उनकी मूँछें ।

ओह सह नहीं पाएगी मेरी खोपड़ी मेरी झोपड़ी भी
इस भूचाल का प्रहार
ए.सी. में बैठे भू-वेत्ताओं ने रिक्टर स्केल पर
शून्य कर दी है जिसकी तीव्रता
महज एक संयोग करार दे कर।

उफ़्फ, वे आ ही गये हैं द्वार भड़भड़ाते
मेरे बच्चों, छुप जाओ कहीं पिछवाड़े
सदियों पुरानी माटी ओढ़े माँ और बुजुर्गों के साथ
झेल लूँगा यह तूफान अकेले दम आज भी।
हे मेरे प्राण, सिमट जा, सिमट जा
ओस की बूँद सा थरथराता कहीं कोने में।
तुलसी की पत्तियों के बीच।
अरे ठहर, मत काँप यूँ थर-थर
बन जा भगोड़ा चूहा या कीट-मकोड़ा
छुप जा किसी दरार में रोज की तरह
डर नहीं, डर नहीं कुछ न होगा तुझे
वो ऊपर बैठा है न सबका हाथ पकड़ने वाला
सबका साथ देने वाला
ओह, सुनता क्यों नहीं वह दीन की पुकारें
देखता क्यों नहीं ये काँपती अल्पसंख्यक दीवारें
अपने अच्छे दिनों में भी ।
ओह वे घुस ही आए हैं अंदर
ओ मेरे प्राण, बना ले इस बैसाखी को ही यान
उड़ जा सगर्व मंगल ग्रह पर
दिखेगा जहाँ से सारे जहाँ से अच्छा
ये लंगडिय्तान हमारा ये गूंगास्तान हमारा।
ओह किधर जाऊँ कहाँ जाऊँ
ढोकर यह पौने छह फुटा प्राण
आखिर पाऊँगा भी कहां त्राण
बेहतर है हवाले कर दूं खुद को
इस विशालकाय भूखे दानव के सामने रौंदे जाने को
पर पहले प्रण कर प्राण
सुबह हर चाय की प्याली में उठे इक तूफान
तैर उठे तेरे रक्त का कतरा कतरा
तभी जानेगी यह कुंभकर्णी व्यवस्था
उन्माद के किस रावण से है
संपूर्ण सह-अस्तित्व को ही खतरा ।

हाय! आह! हा ! ओम शांति साँस साँस स्वाहा
हाय मेरे ईश्वर, मेरे गॉड़, वाहे गुरू,
हाय मेरे अल्लाह !!!-

1150/11, प्रोफेसर कालोनी कैथल (हरि) 09466239164

मुक्तक

स्याही को शब्दों में ढालो,अक्षर अक्षर खूब सँवारो
इसे क्यों मलते हो चेहरों पर गंवारो
सभ्यता के पदचिन्हों की पहचान स्याही है
यह रोशनाई है, इसे आत्मा में उतारो।

-अमृत लाल मदान

कुछ मुंबइया फिल्में और हरियाणवी जनजीवन का यथार्थ

सहीराम

अभी तक यही माना जाता रहा है कि हरियाणवी जनजीवन खेती किसानी का बड़ा ही सादा और सरल सा जनजीवन है। इसमें न कोई छल-कपट है, ना कोई दिखावा है, ना कृत्रिमता, ना कोई बनावट है और ना ही कोई दोहरापन है। ना कोई जटिलता है, ना किसी तरह के अंतर्विरोध हैं, ना किसी तरह की विडंबनाएं हैं। दुराव-छिपाव और आधुनिकता की लानत से पूरी तरह दूर, यह एकदम देहाती, सरल और सपाट सा जनजीवन है। असल में हरियाणवी जनजीवन की यह छवि हम सबने मिलकर गढ़ी है। हमारे चतुर-चालाक नेताओं ने, घाघ नौकरशाहों ने, शहरों में बस गए और दोहरी जिदंगी जीते यहां के नए-नवेले मध्यवर्ग ने - क्लासिक अर्थ में जो अभी मध्यवर्ग बन भी नहीं पाया है, उथलेपन से ग्रस्त मीडिया ने, हमारे लोकजीवन को लोकप्रिय ढ़ंग से सामने लानेवाले गायकों, भजनियों और सांगियों ने और उन कलमकारों ने भी जिन्होंने गहरे पानी पैठने की कभी कोशिश नहीं की। वरना किसी भी क्षेत्र का जनजीवन इतना सरल और इतना सपाट होता नहीं है। यहां तक कि आदिवासी जनजीवन भी इतना सरल और सपाट नहीं होता।

असल में अपनी इस पहचान को हमने लाडले बच्चे की तरह पाला है, जिसे हर बुरी नजर से बचाया जाता है। उसकी सारी कमियों और खामियों को बड़े जतन से छिपाया जाता है। इस पहचान को हमने घर की उस बहू की तरह से रखा है जिसका पर्दा हटने से घर की इज्जत जाने का डर रहता है। इस पहचान को हमने बड़े ही पवित्र ढंग की चीज माना है जिसकी तरफ ना उंगली उठायी जा सकती है और ना ही जिस पर सवाल खड़े किए जा सकते हैं।

वास्तव में देखा जाए तो इसकी जड़. हमारे पिछड़ेपन में ही हैं। इसकी जड़. उस राजनीतिक पिछड़ेपन में हैं जिसकी हकीकत यह है कि हम स्वतंत्रता आंदोलन की उस सारी उथल-पुथल तक से वंचित रहे जिसने पूरे देश को अपने आगोश में ले लिया था। भारतीय जनजीवन में उठी यह सबसे बड़ी राजनीतिक आंधी थी, जिसके झौंके से कोई नहीं बचा था। कैसे कोई भूल सकता है कि हमारा पड़ोसी पंजाब, जिसका तब हम एक हिस्सा ही थे, हमारे बस इसी हरियाणा वाले हिस्से को छोड़कर, वह उसमें गहरे तक मुब्तिला रहा। निश्चय ही हम इस पर गर्व कर सकते हैं कि यही हरियाणा वह क्षेत्र है जिसके हर गांव और हर बस्ती ने 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया था। उस वक्त इस क्षेत्र की शायद ही कोई रियासत ऐसी रही होगी, कोई राजा या नवाब ऐसा बचा रहा होगा, जो इस लड़ाई से दूर रहा हो, जबकि विडंबना देखिए कि पंजाब की रियासत. तब अंग्रेजों का साथ दे रही थी।

लेकिन उसके बाद एक खला पैदा हुई, एक ऐसा खालीपन, ऐसा शून्य पैदा हुआ, ऐसा अलगाव बना, ऐसा दुराव पैदा हुआ, ऐसा मानस बना कि राज के अगाड़ी ना आना हमारा सिद्धांत ही बन गया। इसकी वजह निश्चय ही वह दमन, वह जुल्म रहा होगा जो ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने यहां की जनता पर ढाया था। उसे दंडित करने के लिए और जिससे शायद कोई नहीं बचा था।

इसी जुल्म ने यह सबक दिया होगा कि हमें राज के अगाड़ी नहीं आना चाहिए। हालांकि जुल्म कभी कोई सबक देता नहीं है। वह सिर्फ जख्म देता है। कई बार जिन्हें भरने में सदियां भी लग जाती हैं। यह सिद्धांत भी निश्चय ही इस जख्म की मलहम ही रहा होगा। या फिर हो सकता है उस दर्द को भुलाने के लिए किया गया कोई नाश। निश्चय ही अपवाद भी रहे। बल्कि सच्चाई तो यह है कि गदरियों में भी हरियाणवियों का हिस्सा बहुत बड़ा था। सो इस क्षेत्र के जो भी थोड़े-बहुत लोग स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल रहे, वे सम्माननीय हैं। पर यह भी सच है इस आंदोलन के मूल्य जनमानस के मूल्य नहीं बन पाए। अंतर्विरोध यही होते हैं, विडंबनाएं ऐसे ही सामने आती हैं।

इसकी वजह उस सांस्कृतिक पिछड़ेपन में भी है जो शिक्षा से दूरी के चलते पैदा हुआ। आजादी के सत्तर साल बाद आज भी स्थिति यह है कि हमारे यहां ऐसे परिवारों की तादाद बहुत बड़ी है जहां सिर्फ पहली-दूसरी पीढ़ी ही शिक्षा से जुड़ पायी है। ऐसे में किसी सांस्कृतिक आंदोलन, किसी रेनेसां की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। बंगाल के जिस रेनेसां की बात होती है वहां पंद्रह-पंद्रह और इससे भी अधिक पीढियों से आधुनिक शिक्षा है।

खुद हमारा पड़ोसी पंजाब उस तरह से आधुनिक शिक्षा से वंचित नहीं रहा, जितना पंजाब का हमारा यह हिस्सा रहा। इसकी वजह शायद यह रही कि तब भी लाहौर एक बहुत ही विकसित शहरी केंद्र था। शायद दिल्ली से भी ज्यादा। हमारे पड़ोस

में दिल्ली जरूर थी, पर वह वैसे हमारी नहीं थी जैसे लाहौर पंजाबियों का था या कलकत्ता बंगालियों का था। दिल्ली हमारे लिए एक अजनबी शहर था, बल्कि उसके मुकाबले आगरा कहीं ज्यादा अपना था।

इसकी वजह उस सामाजिक पिछड़ेपन में है, जिसे आर्य समाज जैसा समाज सुधार आंदोलन भी दूर नहीं कर पाया। अगर समाज सुधार आंदोलनों के लिहाज से देखा जाए तो आर्य समाज एक मात्र ऐसा समाज सुधार आंदोलन रहा, जिसका कुछ असर हरियाणा के कुछ क्षेत्रों में रहा है। जबकि बंगाल में ब्रह्म समाज, सती प्रथा विरोध आदि अनेक समाज सुधार आंदोलन चले। खुद हमारे पड़ोसी पंजाब में आर्यसमाज के अलावा सिख समाज में व्याप्त बुराइयों के खिलाफ अकाली आंदोलन चला। आर्य समाज आंदोलन का असर हरियाणा में रहा तो जरूर, लेकिन वह बहुत ही सीमित था। अलबत्ता आर्य समाज ने इस क्षेत्र की जनता को आधुनिक शिक्षा से जरूर परिचित कराया, पर वह उसे वह आधुनिक भावबोध नहीं दे पाया, जिसकी खुद उसमें भी कमी थी। वह समाज सुधार की बजाय एक पुनरुत्थानवादी आंदोलन बन कर रह गया और यहां के जनजीवन ने उसके उन्हीं तत्वों को ज्यादा ग्रहण किया, जो प्रतिगामी थे।

आधुनिक राजनीति मंथन से दूरी, जिससे आधुनिक सामाजिक मूल्य भी बने, आधुनिक शिक्षा से दूरी, जो आधुनिक सांस्कृतिक संस्कार देती है और समाज सुधार आंदोलनों से दूरी, जो समाज को आधुनिकता की दिशा में आगे बढ़ाते हैं, इन तमाम बातों ने ही यह स्थिति पैदा की कि हम अपने पिछड़ेपन को ही महिमामंडित करते रहे, उसका गुणगान करते रहे, उसे ही आदर्श मानते रहे।

इसके चलते हम सिंधु घाटी सभ्यता, महाभारत और गीता, वेदों और पुराणों से तो जुड़ते रहे, उन्हें तो अपना मानते रहे, उन पर तो गौरवान्वित होते रहे, पर आधुनिकता से हमने एक ऐसी सुरक्षित दूरी बनाए रखी कि वह बस हमें रोजगार तो दे दे, पर हमारे लोकजीवन को ना छुए। उन मूल्यों को ना छुए जिनमें काफी कुछ आदिमपन है और जिस पर सामंतवाद की चाशनी चढ़ी है जिसकी वजह से वह अपने भोलेपन की सीमाओं को लांघकर काफी सांघातिक हो जाता है।

हरियाणवी जनजीवन की यह जो छवि हमने गढ़ी थी, यह कुछ दिन और चलती रह सकती थी। लेकिन इसे पहले तो तोड़ा हरित क्रांति ने। पर हरित क्रांति से भी पहले फौज की नौकरी और आधुनिक शिक्षा इसमें थोड़ी सेंध जरूर लगा चुकी थी। लेकिन आधुनिकता से फौजियों का परिचय स्वाभाविक नहीं था। वह कुछ-कुछ थोपा हुआ और कृत्रिम था। मन और सोच से वे अभी भी किसानों के वे बेटे ही थे, जिन्हें उनकी गरीबी ने फौजी का बाना धारण करने पर मजबूर किया था। और वैसे भी रिटायर होकर वे गांव ही लौट रहे थे, उसी माहौल जो उनके मन से कभी जुदा हुआ ही नहीं था। और गांव भी उन्हें वैसे ही अपनी बाहों में समेट रहे थे जैसे बिछड़े हुए बच्चे को कुछ और अधिक लाड़ से मां समेट लिया करती है।

इसी तरह आधुनिक शिक्षा के संपर्क में आयी पहली एक-दो पीढ़ियां भी, जिनके ऊपर के स्तर में ज्यादातर वकालत के पेशे से जुड़े लोग ही आते थे और निचले स्तर राजस्व विभाग के वे कारिंदे आते थे, जो पटवारियों आदि के रूप में सरकारी नौकरियां करने लगे थे। इन दोनों ही स्तरों के लोग पुरानी मनोदशा और मनोभाव में गर्क रहते थे। कुछ मजबूरन और कुछ रूमानियत के चलते।

राजस्व विभाग के नौकरीशुदा और वकालत के पेशे से जुड़े लोग दोनों ही अपनी पेशागत मजबूरी के चलते भी और क्योंकि राजनीति में भी वकालत के पेशे से जुड़े हुए लोग ही ज्यादा सक्रिय

लघु कथा

करामात

सआदत हसन मंटो

लूटा हुआ माल बरामद करने के लिए पुलिस ने छापे मारने शुरू किए। लोग लूटा हुआ माल डर के मारे अंधेरे में बाहर फैंकने लगे। कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने अपना माल भी मौका पाकर अपने से अलहदा कर दिया ताकि कानूनी गिरफ्त से बचे रहें एक आदमी को बहुत दिक्कत आई। उसके पास शक्कर की दो बोरियां थी, जो उसने पंसारी की दुकान से लूटी थी। एक तो वह रात के अंधेरे में पास वाले कुएं में फैंक आया, लेकिन जब दूसरी उठाकर उसमें डालने लगा तो खुद भी साथ चला गया। शोर सुनकर लोग इक्ट्ठा हो गए। कुएं में रस्सियां डाली गई। दो जवान नीचे उतरे और उस आदमी को बाहर निकाल लिया, लेकिन चंद घंटों बाद वह मर गया।

दूसरे दिन जब लोगों ने इस्तेमाल के लिए उस कुएं में से पानी निकाला तो वो मीठा था। उसी रात से उस आदमी की कब्र पर दिए जल रहे हैं।

थे, इसलिए अपनी राजनीतिक सक्रियता के चलते भी गांव से उनका प्रगाढ़ रिश्ता बना हुआ था। बेशक वे गांव और शहर के बीच पुल का काम भी कर रहे थे। पर वे सुकून ग्रामीण परिवेश में ही पाते थे।

आधुनिक शिक्षा के संपर्क में आनेवालों की एक तीसरी श्रेणी भी थी और वह थी शिक्षण के पेशे से जुड़े लोगों की, जिनका समाज को आधुनिक भावबोध देने में तो चाहे उतना बड़ा योगदान ना रहा हो, जैसा कि बंगाल जैसे प्रांतों में रहा-याद कीजिए चटगांव विद्रोह के नायक सूर्य सेन शिक्षक ही थे। पर समाज के नए तबकों को शिक्षा से जोडऩे में उन्होंने अहम भूमिका अदा की, जिसको कम करके नहीं आंका जा सकता।

जो काम न फौज की नौकरी कर पायी और न ही आधुनिक शिक्षा से रोजगार पाए हुए लोग, वह काम हरित क्रांति ने किया। हरित क्रांति ने इस छवि को पहली बार काफी शिद्दत से झकझोरा। हरित क्रांति जमीन से अतिरिक्त उत्पादन के जरिए पैसा तो लेकर आयी ही थी और मशीनरी से तो परिचय करा ही रही थी, शहरी जनजीवन से भी वाकफियत बढ़ा रही थी।

हरियाणवी जन बाजरे और ज्वार जैसा मोटा खाना छोड़ रहा था और गेहूं को बड़े पैमाने पर अपना रहा था। वह मोटा-झोंटा पहनना छोड़ रहा था और पॉपलीन, टैरालीन को अपना रहा था। चमड़े की गांव के कारीगर का बनायी हुयी जूतियां पहनना छोड़, वह चप्पल. और स.डिल पहन रहा था। हाथ की चक्की का पिसा आटा खाना छोड़ बिजली की चक्की से पिसा आटा खाने लगा था। इसलिए शहरी जनजीवन से वाकफियत का यह काम हरित क्रांति काफी उथले ढ़ंग से कर रही थी। और असल में तो हरित क्रांति से समृद्ध और संपन्न हो रहा तबका शहरी मध्यवर्गीय जनजीवन की जटिलताओं और विडंबनाओं से अभी भी दूर था और अगर कोई नजदीकी बन भी रही थी तो उसका भी दिखावा यही था कि वह उनसे दूर है और अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक पिछड़ेपन को वह अभी भी महिमामंडित करने में ही लगा था।

इसलिए आश्चर्य नहीं कि जब पूरा हरियाणा देश में सबसे पहले सड़क संपर्क से जुड़ रहा था, जब पूरे हरियाणा का देश में सबसे पहले विद्युतिकरण हो रहा था, तब भी उसकी छवि ''देसां मैं देस हरियाणा, जित दूध दही खाणा'' वाली ही बनायी जा रही थी और बड़े ही सचेत ढ़ंग से बनायी जा रही थी। पूरा राजनीतिक संस्थान यही छवि गढ़ रहा था क्योंकि इस छवि के जरिए वह यह दिखाने की कोशिश कर रहा था कि हरियाणा को उनकी राजनीति संपन्न तो बना ही रही है, साथ ही संपन्नता से आनेवाली बीमारियों से भी बचाए हुए है। जबकि खुद उन्हें उनके कुकृत्यों की खुली छूट मिली रह सकती है। प्रशासन भी राजनीति का ही अनुसरण कर रहा था। क्योंकि इसी में उसकी भलाई थी।

मीडिया की भी ऐसे जनजीवन और ऐसे समाज में कोई दिलचस्पी नहीं थी जिससे कोई खबर ही नहीं निकल सकती थी। उस जमाने में मीडिया में खबर. बनती थी - भूख और गरीबी से। यह सच है कि हरियाणा में भुखमरी जैसी कोई स्थिति नहीं थी,जो बिहार, बंगाल, उड़ीसा जैसे राज्यों में दिखाई देती थी। यहां न जमींदारों और मुजारों के बीच का टकराव था जैसा कि बिहार, बंगाल जैसे राज्यों में दिखाई देता था और जिसकी वजह यह थी कि जमींदारी प्रथा यहां थी ही नहीं, रवैतवाड़ी प्रथा थी। यहां औद्योगिक असंतोष भी नहीं था क्योंकि उद्योग थे ही नहीं। बेरोजगारी की समस्या भी उतनी सघन नहीं थी, जो बाद के वर्षों में हुयी। तब तक फौज और पुलिस की नौकरियां इस सघन बनती समस्या के सेफ्टी वॉल्व की तरह काम कर रही थी और इसे विस्फोटक नहीं बनने देती थी। फिर भ्रष्ट और घूसखोर नेता सरकारी क्षेत्र में भी अपनी राजनीतिक मजबूरियों के चलते कुछ नौकरियां तो दे ही रहे थे। इसलिए एक आदर्श शांत, सपाट सा जीवन था। हालांकि निचली स्तर पर असंतोष और आंदोलन खदबदा रहे थे, जिसका उदाहरण सत्तर के दशक के आरंभ में हुआ शिक्षकों का आंदोलन था।

पर क्योंकि निचले स्तर पर खदबदा रहे आंदोलन को देखने में शासक वर्ग की कोई रुचि नहीं थी, सो एक सीधे, सरल और सपाट जीवन की छवि बनाए रखी गयी। हालांकि हरित क्रांति के जमाने में आंख. खोलनेवाली पीढ़ी से निकल रहे नए लेखक जनजीवन की इन सारी विडंबनाओं और अंतर्विरोधों को पहचानने लगे थे और उस ढोंग को समझने लगे थे। अभी यह दृष्टि हासिल की ही जा रही थी कि वैश्वीकरण ने धावा बोल दिया।

वैश्वीकरण ने पूरी निर्ममता के साथ इस गढ़ी हुयी छवि को ध्वस्त कर दिया। उसने सिर्फ अर्थव्यवस्था के नेहरूवादी मॉडल को ही नहीं उलटा बल्कि सामंतवाद ने ग्रामीण आदर्शवाद के जो परकोटे निर्मित कर रखे थे और जिसमें हरित क्रांति से पैदा हुआ पूंजीवादी रूप उसका साथ दे रहा था, उन पर भी जबरदस्त धावा बोला था। पैसा खुल कर खेलने लगा था। राजनीति कहीं सांप्रदायिकता तथा जातिवाद का, तो कहीं बाहुबल का सहारा तलाश रही थी, तो कहीं वह पूंजी की चेरी बन रही थी और कई जगहों पर तो खुद ही सबसे बड़ा व्यापार बन कर उभर रही थी।

ग्रामीण भोलेपन का नकाब उतर रहा था और वह काफी बर्बर रूप में सामने आने लगा था। समाज की तलछट से निकला लंपट तबका खुलकर सरकार को भी और समाज के कायदे-कानूनों को भी चुनौती देने लगा था। बेरोजगार युवाओं के गिरोह बनने लगे थे। गैंगस्टर पैदा होने लगे थे। भ्रष्ट तरीकों से समृद्ध होनेवाले इज्जत पाने लगे थे। लेकिन वैश्वीकरण के इसी तांडव के बीच एक

ऐसा नया तबका भी बन रहा था जो अपने लिए जीवन की एक नयी संहिता और आदर्शवाद गढ़ रहा था, उसका निर्माण कर रहा था। उसे ना भोलेपन की आड़ चाहिए थी और ना ही बुजुर्गों की सीख। वह सारे ढोंग और पाखंड को समझ रहा था और उनसे पार पाने की कोशिश में लगा हुआ था।

यह एक नयी सच्चाई थी, एक नया यथार्थ था जिसे हमारे रचनाकार पकड़ने की कोशिश तो जरूर कर रहे थे, लेकिन अक्सर ही वह उनके हाथ से फिसल जा रहा था। जिस तेजी से यह यथार्थ बदल रहा था, कवियों के लिए तो उतना नहीं लेकिन लेखकों के लिए उसे पकड़ना काफी मुश्किल हो रहा था। अब तक जनजीवन के यथार्थ को पकड़ने में लेखक आगे रहते थे। लेकिन इस बार फिल्मकार इस यथार्थ को पकड़ने में ज्यादा आगे लग रहे थे। वे इस यथार्थ को पकड़ने में ज्यादा सक्षम नजर आ रहे थे। नयी सदी की पहली दहाई बीतते-बीतते यह बात ज्यादा से ज्यादा सच होती दिख रही थी।

यही वजह थी कि हरियाणवी जनजीवन की पुरानी गढ़ी हुयी छवि के विपरीत उसका नया यथार्थ मुंबइया फिल्मों में कहीं ज्यादा विश्वसनीय ढंग से सामने आने लगा था। यहां हम पांच मंबइया फिल्मों - 'मटरू की बिजली का मंडोला', 'हाई वे', 'तनु वेड्स मनु रिटर्न्स', 'गुड्डू रंगीला' और 'एन एच-टैन - की बात कर.गे। ये वे फिल्में हैं जिन्होंने हरियाणवी जनजीवन की खासतौर से उन कुछ प्रवृतियों को पकडऩे की कोशिश की है जो इन दिनों सबसे ज्यादा मुखर हैं बल्कि समाज को रूपाकार देने में अगुवा बनी हुयी हैं।

यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि ये समानांतर सिनेमा या न्यू वेव सिनेमा या कला फिल्मों जैसी कोई नयी जमीन तोड़नेवाली या कलात्मकता के नए आयाम गढ़नेवाली फिल्में नहीं हैं। साधारण मुंबइया फिल्में हैं। पूरी तरह व्यवसायिक। वे कुछ-कुछ मसाला फिल्में भी हैं। यथार्थ को लार्जर दैन लाइफ के रूप में दिखानेवाली। इसके बावजूद इनमें हरियाणवी जनजीवन की उन खास प्रवृतियों की एक झलक और एक खास सीमा तक यथार्थवादी झलक मिलती है।

इनमें पहली फिल्म है 'मटरू की बिजली का मंडोला' जो वैश्वीकरण की नीतियों के जरिए किसानों की जमीनें हड़पे जाने के इर्द-गिर्द बुनी कहानी है। नयी सदी के शुरूआती वर्ष बीतते-बीतते दरबारी पूंजीवाद का बदतरीन रूप दिखाई देने लगा था जहां सरकार औद्योगीकरण के नाम पर जमीन के बड़े-बड़े रकबों का अधिग्रहण कर अपने चहेते उद्योगपतियों और पूंजीपतियों को तोहफे में देने में लग गयी थी। यह वह समय था जब सेज (एस ई जेड) के नाम पर सरकार ने एक अंबानी परिवार को ही मुंबई के करीब पच्चीस हजार एकड़ जमीन और दिल्ली के करीब हरियाणा के गुडग़ांव में पच्चीस हजार एकड़ जमीन के तोहफे दिए थे।

यह वह समय था जब सरकार का करीबी शायद ही ऐसा कोई कार्पोरेट घराना बचा हो जिसने सेज के नाम पर और कई-कई सेज के नाम पर जमीन. ना हथियाई हो। यहां तक कि अनेक मीडिया हाऊसों ने भी इस बहती गंगा में हाथ धो डाले थे। औद्योगिक जगत में यह एक फैशन सा ही चल पड़ा था कि जिसने सेज के लिए जमीन नहीं ली, उसे पिछड़ा हुआ समझ लिया जाएगा। यह मान लिया जाएगा कि सरकार में उसकी कोई पंहुच नहीं है यानी वह देश के विकास में हिस्सेदार नहीं है। यह वह दौर था जब पूरे देश में जमीनों की लूट मची हुयी थी।

पंजाबी लोक कथा

श्रोता का हंसना और रोना

एक बार किसी मौलवी ने मस्जिद में गुनाह पर तकरीर देते हुए बताया कि गुनाहगारों को दोजख में कैसी-कैसी सजाएं दी जाती हैं। उसने दोजख का बहुत हौलनाक मंजर पेश किया। तकरीर सुनने वालों में एक गरीब किसान भी था। मौलवी ने देखा वह जार-जार रो रहा है।

'अपने गुनाहों पर रो रहे हो, क्यों?' मौलवी ने पूछा। सुनने वालों पर अपनी तकरीर का असर देखकर उसे बहुत खुशी हुई। 'मेरे अल्फाज सीधे दिल में उतर जाते हैं, है न? दोजख की सजाओं के बारे में जानकर तुम्हें अपने गुनाह याद आ गए। क्यों यही बात है न?'

गरीब किसान ने अपने आंसू पोंछते हुए कहा, 'नहीं, नहीं, मैं अपने गुनाहों के बारे में नहीं सोच रहा था। मैं तो अपने बूढ़े बकरे के बारे में सोच रहा था, जो पिछले साल मर गया। वह हमें छोड़ कर चला गया। उस बकरे की दाढ़ी हूबहू आपकी दाढ़ी जैसी थी। इतनी मिलती-जुलती दो दाढ़ियां मैंने कभी नहीं देखी। आपकी दाढ़ी देखकर मुझे उसकी याद आ गई।' कहते-कहते वह फिर रो पड़ा।

यह सुनकर गांव वालों ने ऐसा जोरदार ठहाका लगाया कि लगा मस्जिद की छत उड़ जाएगी। बेचारा मौलवी कुरान के पन्ने पलटने लगा।

हरियाणा तो एकदम इसका अगुवा बना हुआ था। यहां सिर्फ अंबानी को ही सेज के नाम पर पच्चीस हजार एकड़ जमीन नहीं दी गयी थी। बल्कि दूसरे औद्योगिक घरानों को भी दिल्ली की सीमाओं से लगते क्षेत्रों में जमीनें दी गयी। हरियाणा सरकार औद्योगिक जगत का आंख का तारा बनी हुयी थी। लेकिन यही वह समय भी था जब जमीन के इस लूट के खिलाफ देशभर के किसान गोलबंद होने लगे थे।

'मटरू की बिजली का मंडोला' फिल्म को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। इस फिल्म में एक स्थानीय उद्योगपति-पूंजीपति है जिसका चरित्र दोहरा है। शराब के नशे में वह गांववासियों का हमदर्द है, उन्हें अपने द्वारा किए जानेवाले जुल्मों के खिलाफ उठ खड़े होने को उकसाता है। यह कुछ-कुछ उसी तरह से था जैसे यह कहा जाता है कि भोलेपन में, पागलपन में और शराब के नशे में आदमी ज्यादा सच्चा होता है। लेकिन शराब का नशा उतरते ही वह व्यक्ति उतना ही जालिम बन जाता है जो कोई भी पूंजीपति हो सकता है। वह ग्रामीणों को बुरी तरह उत्पीड़ित करता है।

फिल्म में एक स्थानीय नेत्री है जो अपने बेटे की शादी इस पूंजीपति की बेटी के साथ करने की आड़ में वहां की सारी जमीन हथियाने का जाल बुनने में लगा हुआ है।

अच्छी बात यह है कि यहां पंचायत का रूप खाप पंचायत वाला नहीं है और वह एक सामूहिक सोच, सामूहिक फैसले और सामूहिक कार्रवाई का रूप होती है। यहां इस पंचायत को दिशा दिखाने वाला 'माओ' भी है जो एक शिक्षित युवक है और इस पूंजीपति का नौकर है और साथ ही उसकी बेटी का प्रेमी भी, जो विदेश से पढ़कर आयी है। उसका पैगाम एक लाल कपड़े पर लिख कर ग्रामीणों के पास आता है।

छोटे-मोटे उद्योगपतियों और पैटी बुर्जुआजी को वैश्वीकरण जिस तरह के सपने दिखाता है उसके प्रतीक के रूप में, एक फैंटेसी के रूप में वहां एक गुलाबी भैंस भी है, जो भदेसपन को रंगरोगन के साथ पेश किए जाने को ही दिखाती है। जो यह दिखाती है कि देश ग्रामीण अर्थव्यवस्था का नकली ढंग से औद्योगीकरण करोगे तो यही रूप बनेगा। यह भैंस इस पूंजीपति को तब दिखाई देती है जब वह शराब के नशे में नहीं होता यानि जब वह आदर्शों की चादर उतारकर अपने क्रूर रूप में होता है और भविष्य के बारे में सोच रहा होता है।

फिल्म में स्थानीय नेता के खिलाफ 'माओ' की अगुवाई में गांववासी अपनी जमीन. बचाने के लिए एकजुट होते हैं और आखिर वह स्थानीय उद्योगपति-पूंजीपति भी उनका साथ देता है और उस नेता की सारी साजिशें नाकाम हो जाती हैं। फिल्म में नाच गानों और सारे मुंबइया मसालों के बावजूद, यह कलात्मक रूप से एक अच्छी फिल्म थी जिसमें पंकज कपूर और शबाना आजमी जैसे कुछ बहुत मंजे हुए कलाकार काम कर रहे थे।

हरियाणा के जनजीवन में जो एक और प्रमुख प्रवृति सामने आ रही है, वह है यहां के युवाओं का बढ़ता अपराधीकरण। जमीनों की जोत बिहार जैसे राज्यों की तरह बड़ी तो यहां पहले भी कभी नहीं थी। बिहार में आज भी हजारों एकड़ के जमींदार हैं। हरियाणा में रैयतवाड़ी प्रथा होने के कारण ऐसे बड़े जमींदार पहले भी नहीं थे। मध्यम आकार की जोत. थीं जिनका आकार अब धीरे-धीरे छोटा होता जा रहा है। सरकारी शिक्षा प्रणाली अब वह काम नहीं कर रही है जो उसने अपने आरंभिक वर्षों में किया था। वह बेकार होती जा रही है। और उससे निकलनेवाले अर्द्ध शिक्षित बच्चे रोजगार की मंडी में कहीं नहीं खप रहे हैं। वे भूमिहीनों और छोटे किसानों के बच्चे हैं।

वे छोटे-मोटे काम करते हुए धीरे-धीरे अपराध की दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं क्योंकि पैसा उन्हें वहां खींचे लिए जा रहा है। वैश्वीकरण की चकाचौंध में वे अपने लिए कोई छोटी-मोटी जगह तलाश कर रहे हैं, जो उन्हें लगता है कि इस रास्ते पर गए बिना संभव नहीं। पर वह तबका उतना अमानवीय और बर्बर भी नहीं हुआ है कि इंसान की और इंसानी मूल्यों की कद्र ना करे।

वैश्वीकरण से समृद्ध हुए तबके के खोखले जीवन मूल्यों और ग्रामीण समाज की तलछट से अपराध की दुनिया में गए युवक में बचे हुए इंसानी मूल्यों की कहानी कहती है फिल्म 'हाई वे'।

यहां एक टैंपो ड्राइवर अपने साथियों के साथ रात को अपने बॉयफ्र.ड, जिसके साथ उसकी शादी होने वाली है, के साथ आऊटिंग पर निकली एक बड़े घर की लड़की का अपहरण कर लेता है। उस लड़की को अपने साथ रखते हुए वह निरंतर अपने ठिकाने बदलता रहता है और अक्सर ही सड़क पर रहता है। शुरू में महावीर नाम का यह ड्राइवर काफी हद तक एक छंटे हुए अपराधी के रूप में सामने आता है। वह गाली-गलौच करता है, जिस लड़की का अपहरण किया है, उसको वह किसी तरह की कोई छूट देने के लिए तैयार नहीं। वह इस पर बजिद्द नजर आता है कि जिस उद्देश्य के लिए यानी पैसे के लिए उसने यह अपहरण किया है, उसकी वह मांग पूरी होनी ही चाहिए। इसके लिए वह काफी क्रूर रूप में भी पेश आता है। लेकिन इसी रूप में वह खुद अपने ही साथी से इस लड़की का शारीरिक शोषण होने से भी उसे बचाता है।

और इसके बाद ही धीरे-धीरे उसका मानवीय पक्ष सामने आने लगता है। गरीबी की मार ने प्रेम के जिस सोते को उसके दिल से सुखा दिया है, वह उसमें फिर से फूटता है। उधर लड़की भी अपनी अमीरी की खोखली दुनिया से दूर और एकदम अलग

बसी इस दुनिया की जीवंतता से परिचित होती है। अमीरी की उसकी परिचित दुनिया में तो वह अपने ही परिचितों के हाथों शारीरिक शोषण का भी शिकार होती है। फिर जिस लड़के के साथ उसकी शादी होनेवाली है और जिसके साथ वह आऊटिंग पर निकलती है, उसकी कायरता भी उसके सामने आती है, जब उसके अपहरण के समय वह उसे निस्सहाय छोड़कर भाग जाता है। जबकि इस बेगानी दुनिया में उसे लगता है कि उसका अपना भी कोई अस्तित्व है। वह अपनी इंसानियत, अपने भोलेपन, इस अपरिचित दुनिया के प्रति आकर्षण और अपने प्रेम से एक पशुवत व्यक्ति को फिर इंसान के रूप में वापस लाने में मदद करती है।

यह अमीर गरीब के प्रेम की परंपरागत कहानी नहीं है। यहां गरीब का अमीरी के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। अलबत्ता उस दुनिया का थोड़ा खौफ जरूर है, जिसे वह अक्खड़पन में छिपाता है। वह दुनिया उसके लिए मात्र इतना ही महत्व रखती है कि वहां से पैसा वसूल किया जा सकता है। अमीर का भी गरीबी के लिए कोई रोमांटिक आकर्षण नहीं है। अपनी दुनिया के खोखलेपन के बरक्स सिर्फ इंसानियत का एक संजीदा रूप उसे आकर्षित करता है और वहीं से प्रेम का अंकुर फूटता है।

'मटरू की बिजली का मंडोला' जहां एक सुखांत फिल्म है, वहीं 'हाई वे' इस माने में एक दुखांत फिल्म है कि समाज की तलछट से आया अपराधी जो छल-कपट से दूर एक साफ दिल लड़की के संपर्क में आने से धीरे-धीरे इंसानी रूप में सामने आता है, वही तथाकथित सभ्य समाज के हाथों इसलिए मारा जाता है कि उस लड़की के सपने पूरे करने में वह उसका साथ देने लगता है। 'हाई वे' सांकेतिक रूप में एक ऐसे रास्ते की कहानी है जिसकी यात्रा अमानवीयता से शुरू होती है, लेकिन जिसका अंत प्रेम तथा मानवीयता से भरपूर उदात्त उत्सर्ग के रूप में होता है। अभिनय की दृष्टि से इस फिल्म के दोनों ही लीड एक्टरों - रणदीप हुड्डा और आलिया भट्ट ने आलोचकों की सराहना पाई है।

'मटरू की बिजली का मंडोला' और 'हाई वे' दोनों ही फिल्में बॉलीवुड के दो नामी और युवा फिल्मकारों की बनाई हुई फिल्में हैं।

'मटरू की बिजली का मंडोला' के निर्देशक विशाल भारद्वाज की ख्याति शेक्सपियर के नाटकों का भारतीय संदर्भों में रूपांतरण और पेश करने के लिए रही है, फिर चाहे वह 'ओमकारा' हो, 'मकबूल' या 'हैदर' हो। लेकिन 'मटरू की बिजली का मंडोला' इस माने में उनकी थोड़ी हटकर बनायी गयी फिल्म है कि इसमें उन्होंने शेक्सपियर की कहानी का सहारा नहीं लिया है। जबकि 'हाई वे' इम्यिाज अली की फिल्म है, जो अलग ढंग की फिल्में बनाते रहे हैं। उन्होंने 'जब वी मेट', 'रॉकस्टार' (यह जानना दिलचस्प होगा कि 'रॉकस्टार' का हीरो भी हरियाणा-दिल्ली की ग्रामीण पृष्ठभूमि से ही आता है) और हाल ही में आयी 'तमाशा' जैसी फिल्म बनायी हैं। इन दोनों ही फिल्मकारों का कहानी कहने का अंदाज जरा अलग है और साधारण दर्शक के लिए थोड़ा जटिल भी हो सकता है। बावजूद इसके ये दोनों फिल्म काफी सफल रही हैं। इन दोनों फिल्मों को न तो चालू अर्थ में मुंबइया फिल्में ही कहा जा सकता है और न ही ये न्यू वेव सिनेमा की फिल्में हैं।

इधर के दिनों में हरियाणवी जनजीवन की जो एक तीसरी प्रवृति बड़ी शिद्दत के साथ सामने आयी है वह है युवाओं के प्रेम की अभिव्यक्ति। हरियाणवी जनजीवन की प्रचलित मान्यताओं के खिलाफ जाकर, खाप पंचायत जैसे प्रतिगामी और बर्बर संस्थानों का सामना करते हुए और सारे खतरे उठाकर तथा अपने जीवन को दाव पर लगाकर ये प्रेमी जोड़े अपने प्रेम को पाप मानने से इंकार करते

छपते-छपते

राजीव सान्याल

वर्तमान हालात पर भारतीय सांस्कृतिक झलक को संजय लीला भंसाली ने बाजीराव मस्तानी में जिस बेहतरीन ढंग से सिल्वर स्क्रीन पर उतारा है। कड़ाके की ठंड में दर्शकों को मोहब्बत की गर्मी का अहसास करवाता है। इतिहास के पन्नों में दफन मुगलिया सल्तनत से लड़ते छत्रपति के पेशवा बाजीराव की बुंदेल की मुस्लिम योद्धा राजकुमारी मस्तानी से आखिरी सांस तक प्रेम गाथा शायद महबूब खान की मुगल ए आजम पर भारी पड़ती नज़र आ रही है। बाजीराव मस्तानी फिल्म कबीर की साखी, मीरा के भजन, चेतन्य के नृत्य, नानक के शब्द, सूफियों के लातेहान और गंगा जमुनी संस्कृति पर बिस्मिला की शहनाई है।

बाजीराव मस्तानी वो भी ऐतिहासिक दस्तावेजों के साथ बकौल फिल्म हर धर्म की बुनियाद मोहब्बत पर टिकी है। 'दिल दे चुके सनम' और 'देवदास' के बाद गुणात्मक रूप में सामने आए हैं लीला भंसाली कलाकारों सहकलाकारों के जबरजस्त शानदार और जिंदाबाद मेलजोल के साथ राजीव सान्याल

सम्पर्क : 9416178551

हैं और पूरी शिद्दत के साथ अपने संबंधों को निभाने के लिए आगे आ रहे हैं। खास तौर पर लड़कियों की भूमिका इसमें बहुत ही बोल्ड रूप में सामने आती है।

यह प्रवृति यूं तो 'गुड्डू रंगीला' और 'एन एच टैन' में भी सामने आती है। पर 'तनु वेड्स मनु रिटर्न्स' में दत्तो की भूमिका में वह खासतौर से रेखांकित होती है। दत्तो यानी कुसुम सांगवान दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्रा है। उसका भाई जो कि पहलवान रहा है और जिसने अपनी पसंद से शादी की है और जो स्वाभाविक रूप से खाप का सताया हुआ है और अपनी छोटी बहन को साथ लेकर जो शहर में आकर बस गया है, वही भाई उसे एक खुले तथा स्वस्थ माहौल में पाल-पोसकर बड़ा करता है जिससे वह एक समर्थ व्यक्ति के रूप में समाज में अपना स्थान बनाने के लिए संघर्षरत है।

वह एथलिट है और ऐसी बोल्ड है कि दिल्ली जैसे शहर, जो महिलाओं और लड़कियों से छेड़छाड़ तथा बलात्कार की घटनाओं के मामले में रेप कैपिटल होने का दाग ढो रहा है,अपनी हॉकी स्टिक से उस आदमी की खबर लेने में नहीं हिचकिचाती जिसके बारे में उसे लगता है कि वह उसका पीछा कर रहा है। यह वह व्यक्ति है जो इसलिए उसके आसपास मंडरा रहा है क्योंकि दत्तो की शक्लसूरत उसकी पत्नी से मिलती है, जो उसे छोड़ गयी है।

हालांकि बाद में उसी व्यक्ति से उसे प्रेम हो जाता है और वह उससे शादी करने के लिए तैयार हो जाती है। उसका भाई उसे ना सिर्फ उसे प्रेम करने की छूट देता है बल्कि इस शादी के उसके फैसले में भी उसका साथ देता है। इस फिल्म में भी खाप का वही बर्बर रूप सामने आता है जहां लड़की को बांधकर जिंदा जलाने की कोशिश की जाती है। लेकिन समय पर उसका भाई पंहुच जाता है और उसे बचा लेता है। यह प्रसंग इस फिल्म में काफी छोटा है, लेकिन खाप पंचायत की बर्बरता को दिखाने के लिए काफी है।

बाद में ऐन फेरों के वक्त वह इस शादी से इंकार कर देती है। न सिर्फ इसलिए कि लड़के की पूर्व पत्नी, जो कि शादी के वक्त वहां पंहुच जाती है, और अपने होने वाले पति के उसके प्रति प्रेम का वह पहचान लेती है बल्कि इसलिए भी कि उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व उसे यह निर्णय लेने को बाध्य करता है। यह फिल्म इस मायने में महत्वपूर्ण है कि इसमें लड़की के प्रेम करने के अधिकार और उसके स्वतंत्र तथा बोल्ड व्यक्तित्व को पूरी हरियाणवी छाप के साथ बड़े ही खूबसूरत ढ़ंग से चित्रित किया गया है। कंगना रनौत को इस भूमिका के लिए भारी सराहना मिली है।

हरियाणवी जनजीवन की चौथी लेकिन सबसे प्रमुख,सबसे विजिबल तथा चर्चित प्रवृति है खाप पंचायतें, जो न सिर्फ सभ्य समाज में हरियाणा की बदनामी का सबब बनी हैं बल्कि जिन्होंने राजनीति तथा न्यायपालिका दोनों में ही हलचल भी पैदा की है। खाप पंचायतों की मनमानी, निर्ममता, उनकी फतवेबाजी, उनका तालीबानी रूप, शासक वर्गों का उनको संरक्षण और प्रेमी जोड़ों को दी जानीवाली उनकी सजाएं खासतौर से फिल्म जैसी विधा को काफी मसाला मुहैया कराती हैं। इसलिए खापों को लेकर फिल्में तो कई बनी जिसमें मिस टनकपुर जैसी चालू फिल्में भी हैं, लेकिन यहां हम दो ही फिल्मों पर अपना ध्यान क.द्रित कर रहे हैं - गुड्डू रंगीला' और 'एन एच-टैन'।

'गुड्डू रंगीला' सुभाष कपूर की फिल्म है, जिन्होंने 'फंस गए रे ओबामा' और 'जौली एल एल बी' जैसी चर्चित फिल्में बनायी हैं। 'गुड्डू रंगीला' उनकी उसी श्रृंखला की फिल्म तो नहीं कही जा सकती। क्योंकि 'फंस गए रे ओबामा' पूरी तरह से व्यंग्य फिल्म थी जो उन्होंने वैश्विक मंदी जैसे बड़े और गंभीर विषय को लेकर बनायी थी और जिसमें उनकी प्रतिभा पूरी तरह निखरकर सामने आयी है। 'जौली एल एल बी' भी उसी श्रृंखला की फिल्म थी जिसमें उनका व्यंग्यात्मक सुर अंत तक नहीं चल पाया और न्याय व्यवस्था पर वह काफी गंभीर फिल्म के रूप में सामने आयी।

'गुड्डू रंगीला' उनकी खाप पंचायतों की बर्बरता को लेकर बनायी गयी फिल्म है। हालांकि उनकी व्यंग्य प्रतिभा इस फिल्म में भी कुछ दृश्यों में दिखाई देती है, लेकिन शायद विषय ही ऐसा था और जो कहानी उन्होंने कहने की कोशिश है, उसने इसकी इजाजत नहीं दी। इस फिल्म का जो सबसे दमदार पहलू है, वह है खाप पंचायतों को मिल रहा राजनीतिक संरक्षण जहां विधायक बिल्लू खाप पंचायतों की प्रमुख हस्ती के रूप में अपनी तमाम काली करतूतों को अंजाम देता है।

हालांकि अंत तक आते-आते यह फिल्म पूरी तरह मुंबइया फिल्म का रूप ले लेती है जहां रंगीला अपने इस पुराने शत्रु से अपना बदला लेता है। लेकिन फिल्म में खाप पंचायतों को मिल रहे राजनीतिक संरक्षण को जिस तरह पेश किया गया है,वह निश्चय ही इस फिल्म का दमदार पहलू है।

'एन एच-टैन' भी खाप पंचायतों की अमानवीयता को ही दर्शाने वाली फिल्म है जिसकी शुरूआत आधुनिक प्रेमी जोड़े के खुले संबंधों को फिल्माने से होती है। यह महानगरीय जीवन में रचे-बसे और उसी के मूल्यों में ढला जोड़ा है। इसकी नायिका जहां एक कार्पोरेट एक्जिक्यूटिव है, बिजनेस लीडर है, वहीं नायक भी इसी वर्ग से आता है और उसके अफसरशाही तथा राजनीति से अच्छे ताल्लुकात हैं। यह जोड़ा नायिका का जन्मदिन सेलिब्रेट करने के लिए शहर से बाहर जाता है और यहीं उसका वास्ता उस बर्बर और जाहिल दुनिया से पड़ता है, जिसकी एक झलक फिल्म के आरंभ में ही मिल जाती है जब कार में जा रही एक अकेली लड़की, जो जाहिर है नायिका ही है, पर हमला होता है और जिसके

बाद पुलिस अधिकारी उन्हें समझाने की कोशिश करता है कि यह शहर एक बढ़ता बच्चा है।

यहां कुछ शुरूआती दृश्यों से ही आगे की हैवानियत की कुछ झलक मिल जाती है। न सिर्फ नायिका पर होने वाले हमले से बल्कि शहर से बाहर जाते हुए एक जगह नायक जब कुछ ग्रामीणों से रास्ता पूछता है, वहां भी। बाद में वे एक ढाबे पर रुकते हैं जहां एक प्रेमी जोड़े को उसके परिवारीजन पकड़कर और जाहिर है सजा देने के लिए ले जा रहे होते हैं। यह जोड़ा पहले भागते हुए हड़बड़ी में उनकी गाड़ी के सामने आता है और फिर अपने प्रेमी संग घर से भागी हुयी लड़की टॉयलेट में नायिका से मदद की भीख मांगती है, जिससे नायिक इंकार कर देती है।

लेकिन जब लड़की के परिजन उन्हें गाड़ी में डाल कर ले जा रहे होते हैं तो नायक से उनकी झड़प हो जाती है और लड़की का भाई उसे थप्पड़ मार देता है। इससे अपमानित महसूस कर नायक इस थप्पड़ का बदला लेने के लिए उनका पीछा करने की ठानता है और यह जोड़ा वहां पंहुच जाता है जहां इन परिजनों द्वारा इस प्रेमी जोड़े की हत्या की जा रही होती है। यहीं से घटनाओं की एक पूरी श्रृंखला शुरू होती है, जिनमें पुलिस की संदिग्ध तथा अपराधियों की मददगार भूमिका और स्वयं लड़की की मां की अपराधियों का साथ देनेवाली भूमिका सामने आती है, हालांकि वह उसे बहुत प्यार करती है। लेकिन यहीं लड़की की भाभी की भूमिका लड़की से सहानुभूति रखनेवाली महिला के रूप में सामने है, जो नयी और पुरानी पीढियों के बीच सोच के अंतर को दिखाती है।

यह फिल्म इस माने में महत्वपूर्ण है कि एक तरफ तो महानगर बनता आधुनिकता की चकाचौंध वाला गुड़गांव शहर है और दूसरी ओर मध्यकालीन मानसिकता से ग्रस्त हरियाणा के गांव। फिल्म का एक डायलॉग इस अंतर को बखूबी रेखांकित कर देता है 'जहां गुड़गांव का आखिरी मॉल खत्म होता है, संविधान और स्वतंत्रता की बड़ी-बड़ी बात. भी वहीं खत्म हो जाती हैं'।

यह फिल्म हरियाणा में व्याप्त पुरूषवादी सोच के प्रभुत्व को भी दिखाती है जहां मां अपनी बेटी की हत्या में सहायक की भूमिका निभाती है। इस फिल्म का अंत भी एकदम फिल्मी है लेकिन सोच के पिछड़ेपन को, उसकी हैवानियत को यह फिल्म पूरी शिद्दत से रेखांकित करती है।

आश्चर्य नहीं कि इन फिल्मकारों में से विशाल भारद्वाज और सुभाष कपूर हरियाणवी जनजीवन से काफी वाकफियत रखते हैं और इम्तियाज अली भी दिल्ली में ही पढ़े-लिखे हैं शायद इसीलिए इन फिल्मकारों ने इन प्रवृत्तियों को काफी प्रामाणिकता के साथ पकड़ा है।

सम्पर्कः **09990764810**

लड़कियों का गीत

विरेन्द्र सिरोहा

आज हम करते हैं, करते हैं जी
पढ़ने की नई शुरुआत
आप भी गाओ जी, गाओ जी
गाओ जी हमारे साथ

पहले मैं अपना इतिहास पढ़ूंगी
माता-पिता से सारी बात करूंगी
दादा-दादी से पूछूंगी जा के
कुणबे की पड़ताल करूंगी
फिर आएगी गांव की बारी
कैसे बनी ये दुनिया सारी
नक्शे में मेरा गांव कहाँ है
मानव का इतिहास पढ़ूंगी
घर और स्कूल की एक हो भाषा
माँ-बोली में बात करुँगी
सपना जो देखा है मैंने,
खुशी खुशी और पूरी उमंग से
सपने को साकार करुँगी
और इसीलिए   आज हम करते हैं

बात बात पे सवाल करुँगी
सही गलत की जाँच करुँगी
अपनी समझ से समझूँगी सब कुछ
रटने से इंकार करूंगी
होगा मुकाबला खुद से मेरा
किसी और से ना होड़ करूंगी
नहीं बनना किसी और के जैसा
नई अपनी पहचान आप घढुंगी
नए जीवन और नई आशा का
कठिनाइयों से कभी ना डरूँगी
जीवन में बस आगे बढ़ूंगी
और इसीलिए आज हम करते हैं

कोई ना देखे बुरी नजर से
भेदभाव जहाँ ना हो किसी से
कहती हैं ये बेटियां सब से
हमको ऐसा समाज भी देना
आओ हम गायें मिलके
आज हम करते हैं....

सम्पर्कः **8950582169**

कृष्णचन्द 'नादान' की रागनियां

1.
जिले रोहतक मैं बसर्‌या सै वो गढ़ी गाम कड़े तैं ल्याऊं
सच्चा रहबर इस जनता का छोटूराम कड़े तैं ल्याऊं

थे मेळ मुल्हाजे आपस मैं इसा महर मळोटा दिखै था
मिलकै काम कर्‌या करते सब भरम भरोटा दिखै था
जो दीदे काढै ठाडा बणकै ना माणस खोटा दिखै था
वो सबका सेवक और सबका प्यारा सबतैं छोटा दिखै था
मेरी आत्मा सीळी हो इसा प्यारा नाम कड़े तैं ल्याऊं

यें कला बाज हठधर्मी सैं मेळ मिलारे जनता पै
झूठ कपट छल बेइमानी की बेल फलारे जनता पै
एक सीट के लालच खातर सेल चलारे जनता पै
लूट लूट धन कठ्ठा कर लिया खेल खिलारे जनता पै
करै खात्मा गुंड्यां का इसा छत्री जाम कड़े तैं ल्याऊं

कदे वो उसकी कदे वो उसकी यो दुत्तां केसा रोळा सै
कठ्ठे होरे य. लाख कुमसल यो पुत्तां केसा टोळा सै
कोए जात जमात नहीं इनके यो ऊत्तां केसा टोळा सै
लेकै माल घरां म्हं बड़गे यो भुत्तां केसा टोळा सै
न्यूं मुंधा पड़ पड़ रोऊं सूं भला उसके काम कड़े तैं ल्याऊं

मूरख माणस इस दुनिया म्हं बोई जामी के जाणै
ऊंच नीच की बातां नै भई नमक हरामी के जाणै
इज्जत और बेइज्जती नै यो कृपण कामी के जाणै
स्याल बड़े रहैं बिल म्हं पर यो शेर गुलामी के जाणै
कहै कृष्ण चन्द सुसाणे केसा रमणीक धाम कड़े तैं ल्याऊं

2.
वजह बता द्यूं आज म्हारा क्यूं हिन्दुस्तान दुखी सै
मिलता ना इन्साफ आड़ै मजदूर किसान दुखी सै

हड्डी पसळी पीस दई यें कूट कूट कै खागे
ना छोड्या मांस कसाईयां नै यें चूंट चूंट कै खागे
बढ़रे पेट ढोल केसे यें ऊठ ऊठ कै खागे
म्हारी कमाई लहू पसे की यें लूट लूट कै खागे
ना पेट में रोटी ना तन पै कपड़ा एक टूटी छान दुखी सै

यें कल्वां मैं ऐश करैं सैं डालमियां और टाटा
पड्या भुखा मील कर्मचारी ना दो रोटी का आटा
सब क्यांहे पै काबिज होगे यें इरला बिरला बाटा
जब देणी आवै मजदूरी तै यें तुरत दिखाद. घाटा
काम करणिया इस भारत मैं बहुत महान दुखी सै

कोए ऐड्डी रगड़ रगड़ कै मरग्या बाहर पड्या पाळे मैं
कोए पत्थरां कै नीचै दबग्या कोए डूब गया नाळे में
आंख फूटगी अन्धा होग्या कोए धूम्मे काळे मैं
फिर भी रोटी ना थ्याई कुछ कसर नहीं चाळे मैं
कमा कमा घर भर दिया फिर भी बेअनुमान दुखी सै

दई बिठा रुखाळी बिल्ली जड़ मैं यो दूध उघाड़ा धरकै
जब बाड़ खेत नै खाण लगै तै के जहाज चलैंगे भरकै
पाप के बेड़े भवसागर से पार लगै ना तिरकै
ना सुख पाया दुनियां म्हं कोए बुरा गरीब का करकै
कृष्ण चन्द कहै इस दुनिया म्हं न्यों नादान दुखी सै

चोंगा

मुल्ला मस्जिद में नवाज पढ़ने जाकर बैठा ही था कि उसके चोंगे की तनिक उढंग देखकर उसके पीछे बैठे आदमी ने जरा सा नीचे खींच कर ठीक कर लिया। मुल्ला ने भी फौरन अपने आगे बैठे हुए आदमी के चोंगे को पकड़ कर नीचे की तरफ खींच दिया। उससे उस आदमी ने पीछे मुड़कर आंखें लाल करके कहा, 'यह क्या हो रहा है, मुल्ला?'

मुल्ला ने फौरन कहा, 'इस सवाल का जवाब तो मेरे पीछे बैठा आदमी ही दे सकता है।'

हरियाणा : साहित्य, समाज और संस्कृति

एक नवम्बर 2015 को कुरुक्षेत्र में 'देस हरियाणा' पत्रिका की ओर से हरियाणाः साहित्य समाज और संस्कृति विषय पर सेमिनार का आयोजन किया। जिसमें अर्थशास्त्री प्रो. टी. आर. कुण्डू, लोक संस्कृतिविद् डा. सुधीर शर्मा, डा. महासिंह पुनिया ने अपने विचार रखे। प्रख्यात उपन्यासकार भगवानदास मोरवाल ने इस सेमिनार की अध्यक्षता की। अमन वशिष्ठ, प्रोफेसर जोगा सिंह, डा. रविन्द्र गासो, माजिद मेवाती तथा साहिल कुमार ने बहस में हिस्सा लिया। सेमिनार का संचालन संपादन मंडल के सदस्य डा. कृष्ण कुमार ने किया। इसमें 150 के करीब श्रोता उपस्थित थे। इसी सेमिनार के अवसर पर देस हरियाणा के दूसरे अंक का विमोचन किया गया। निर्मल ने इसमें मेवाती, ब्रज, बागड़ी, बांगरू आदि हरियाणा की विभिन्न बोलियों में लोकगीतों का गायन किया।

यहां हम प्रोफेसर टी. आर. कुण्डू के वक्तव्य के साथ-साथ अमन वाशिष्ठ व रविन्द्र गासो, भाषावैज्ञानिक प्रोफेसर जोगा सिंह की टिप्पणियों को प्रकाशित कर रहे हैं। शेष वक्तव्यों तथा टिप्पणियों को अगले अंकों में प्रस्तुत करने की कोशिश रहेगी। **(संपादक)**

हरियाणा का आर्थिक विकास और सांस्कृतिक पिछड़ापन

टी आर कुण्डू

संस्कृति दिमाग की सामूहिक 'प्रोग्रेमिंग' है, जो किसी समुदाय को उसकी अलग पहचान देती है। सामाजिक पटल पर जो नजर आ रहा है, वह कम्पूटर स्क्रीन पर दिखाई देने वाले चित्र की तरह है, जिसका मूल 'साफ्टवेयर' तो संस्कृति है। समुदाय द्वारा आत्मसात किए गए जीवन मूल्य, उन पर आधारित प्रत्याशित आचरण के मानदंड, सांझी आस्थाएं एवं मनोवृतियां इस मानसिक रूपी साफ्टवेयर के कुछ मुख्य निर्देश है, जो सामाजिक जीवन का संचालन एवं मार्गदर्शन करते हैं।

दूसरी परिभाषा जो आपके साथ सांझा करना चाहता हूं कि संस्कृति वातावरण का मानव निर्मित भाग है। निसंदेह इस पर स्थानीय प्राकृतिक वातावरण की गहरी छाप होती है, जो संस्कृति की क्षेत्रीय विविधता में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। प्रकृति न केवल जीवन का आधार है, बल्कि समानता, सहनशीलता, सह-अस्तित्व एवं सहस्वस्ता जैसे महत्वपूर्ण जीवन मूल्यों का



प्रमुख स्रोत भी है। प्रकृति एवं संस्कृति के घनिष्ठ संबंध को एक हरियाणवी कहावत में कुछ इस तरह से व्यक्त किया गया है 'दस कोस पर पाणी (प्रकृति) और बारह कोस पर बाणी(संस्कृति) बदल जाती है।' मानव निर्मित होने के कारण संस्कृति पर समाज के सामयिक शक्ति समीकरण एवं उनसे जुड़े वर्ग एवं व्यक्तिगत हितों का प्रभाव बराबर रहता है। संस्कृति की कई बाहरी एवं भीतरी परतें होती हैं। भीतरी परतें जहां अदृश्य होते हुए भी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, वहां ऊपरी परतें अपेक्षाकृत सतही एवं दृश्य होती हैं। ऐतिहासिक एवं धार्मिक महापुरुष, स्थानीय 'हीरोज' एवं 'आइकॉन', कलाकृतियां, अनुष्ठान एवं कर्मकाण्ड बाह्य परत के कुछ प्रमुख तत्व कहे जा सकते हैं। माध्यमिक परतों में सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक आचरण के मापदंड, रीति-रिवाज एवं परम्पराओं को शामिल किया जा सकता है, लेकिन संस्कृति की सबसे गहरी व महत्वपूर्ण परत मूल्यों की होती है, जिनसे समाज रूपी किश्ती बंधी हुई होती है। समय व स्थान के साथ संस्कृति की बाहरी परतें अक्सर बदलती रहती हैं, जबकि मूल्यों में परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत धीमी होगी। वास्तव में संस्कृति की परतें नदी की परतों के समान हैं, जिनकी चाल गहराई के साथ मंद होती जाती है।

सरल शब्दों में संस्कृति एक धरोहर है। एक पोटली है, जिसे हर पीढ़ी

अपने हिसाब से कुछ ओर मूल्यवान बनाकर अपनी अगली पीढ़ी को सौंपती है। इस पोटली में मूल्य है, व्यवहार के मानदंड व तौर-तरीके हैं। लोक कथाएं एवं लोक गीत व कलाकृतियां हैं। भाषा एवं साहित्य है। इतिहास है, सदियों से संजोया ज्ञान एवं दर्शन है, लेकिन इसके अलावा संस्कृति का एक अनकहा भाग भी रहता है, जो इनमें निहित होता है।

इस संदर्भ में मुझे याद आ रहा है कि हमारे अध्यापक हमें प्यासे कौवे की कहानी बताकर उसकी शिक्षा बताते थे कि 'जहां चाह वहां राह'। एक छात्र ने बड़ा साहस करके पूछा कि ये बात तो इस कहानी में है ही नहीं, तो अध्यापक ने जो जवाब दिया वह बड़ा महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा कि कहानी की शिक्षा वह है जो 'कहा नहीं'। कहा नी (नहीं)। शिक्षा इसमें निहित है, छुपी हुई है।

इसी तरह संस्कृति में भी सीख निहित होती है। जीवन दर्शन छुपा रहता है, जिसमें निरंतर संशोधन होता रहता है। संस्कृति नाम की सड़क सदैव कार्याधीन रहती है। यह एक सतत् प्रवाह है, जिसका अनुभव के साथ नवीनीकरण होता रहता है। वास्तव में यह नवीनीकरण बदलती परिस्थितियों के साथ सामाजिक जीवन का सामंजस्य बैठाने की प्रक्रिया है, जिसकी सकारात्मकता किसी भी संस्कृति की मुख्य कसौटी होती है।

हरियाणा में विकास के नाम पर पिछले दशकों में जो बदलाव आया है, उसे मैं आपके साथ सांझा करना चाहूंगा। विकास एक समावेशी धारणा है, जिसे समग्र रूप में समझने की आवश्यकता है। इसमें आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास तीनों ही शामिल हैं। हरियाणा में विकास की इस समावेशी धारणा की बहुत बुरी तरह अनदेखी हुई है, जो विकास के विकृत रूप में स्पष्ट नजर आती है। आर्थिक क्षेत्र में हमने बहुत उन्नति की है। सामाजिक क्षेत्र में भी कुछ आगे बढ़े हैं, लेकिन सांस्कृतिक क्षेत्र में हम बुरी तरह पिछड़ गए हैं व न के बराबर उन्नति की है। हरियाणा ने आर्थिक क्षेत्र में लंबी छलांग लगाई है। हरियाणा ने सबसे पहले अपने हर गांव व शहर में बिजली व सड़क पहुंचाकर आने वाले समय में त्वरित विकास की नींव रखी। प्रदेश ने कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्रों में प्रगति के नए कीर्तिमान बनाए। आज हरियाणा की गिनती देश के चुनिंदा समृद्ध राज्यों में होती है। इस विकास से जहां हरियाणा का आत्मविश्वास बढ़ा, वहीं दूसरे समाजों में सम्मान एवं प्रतिष्ठा भी बढ़ी। लेकिन यह भी कटु सत्य है कि सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में हमारी उपलब्धियां न केवल अपेक्षा के विपरीत रहीं, बल्कि अत्यंत निराशाजनक रही, विशेषकर सांस्कृतिक क्षेत्र में।

मानव-विकास-सूचकांक विकास का एक समावेशी अंतर्राष्ट्रीय व निर्विवादित सूचकांक है। यह सूचकांक मुख्य रूप से इन तीन मानदंडों पर तैयार किया जाता है - आबादी का औसत जीवनकाल, बच्चों एवं व्यस्कों को उपलब्ध शिक्षा के अवसर पर तथा प्रतिव्यक्ति सकल राष्ट्रीय आय। हरियाणा की प्रति व्यक्ति आय देश के सभी प्रमुख राज्यों की प्रति व्यक्ति आय से अधिक है। लेकिन मानव विकास सूचकांक पर हम छठे स्थान पर हैं। यदि इस सूचकांक से प्रति व्यक्ति आय का घटक निकाल दें तो हरियाणा दसवें-बारहवें स्थान पर खिसक जाता है।

यदि आंकड़ों के पार जाएं तो स्थिति और भी बदतर है। हमारे पास स्कूल, कालेज व शिक्षक हैं पर शिक्षा नहीं है। रिपोर्ट बताती है कि तीसरी कक्षा के 30 प्रतिशत विद्यार्थी पहली कक्षा की पुस्तक नहीं पढ़ सकते। पांचवीं कक्षा के 50 प्रतिशत बच्चे ऐसे हैं जो जोड़-घटा के साधारण सवालों को भी हल नहीं कर सकते।

इसी तरह स्वास्थ्य क्षेत्र में मैडिकल कालेज बन गए। जिला स्तर पर बड़े अस्पताल, प्राथमिक चिकित्सा केंद्र बन गए, लेकिन डाक्टर नहीं है। डाक्टर हैं तो दवाई नहीं है। दवाई है तो मशीन नहीं। कुल मिलाकर इलाज नहीं है। नतीजन 65 प्रतिशत जनता निजी क्षेत्र में महंगा इलाज करवाने के लिए बाध्य है।

हरियाणा में कार, मोटर-साइकिल, स्कूटर, टेलीविजन, टेलीफोन व मोबाइल की सुविधाएं रखने वाले परिवारों का प्रतिशत लगभग पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र व अन्य अग्रणी राज्यों के परिवारों के बराबर है, लेकिन जब बात घर की चारदिवारी में शौचालय, नल की टोंटी, पृथक रसोई, स्नान गृह व अन्य मूलभूत सुविधाओं की आती है तो हम इन राज्यों से पिछड़ जाते हैं

प्रदेश में सांस्कृतिक विकास की स्थिति और भी दयनीय है। समय के साथ सरकारों ने आर्थिक, सामाजिक व प्रशासनिक ढांचा तो विकसित किया, लेकिन सांस्कृतिक ढांचा बनाने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया। गांव स्तर पर पुस्तकालय, नाट्यशालाएं व सांस्कृतिक केंद्र स्थापित करने की कोई पहल नहीं की गई।

आज देश तेजी से बदल रहा है, लेकिन हमारी सोच इसके साथ कदम मिलाकर नहीं चल पा रही। बल्कि पीछे की ओर जा रही है। पुरातन सामन्ती व पितृसतात्मक मूल्यों की समाज में पुनर्स्थापना हो रही है। चाहे खाप पंचायतों की निजी जीवन में दखलदांजी हो या अनुसूचित जातियों और महिलाओं के प्रति उपेक्षा व भेदभाव हो, सब की पुनरावृत्ति हो रही है। हरियाणा में महिलाओं एवं दलितों पर अत्याचार जगजाहिर हैं। यह मात्र कानूनी व्यवस्था की असफलता नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक विफलता का भी सूचक है।

महिलाओं की समाज में स्थिति, सांस्कृतिक उन्नति का पैमाना मानी जाती है। हरियाणा में महिलाओं की स्थिति बहुत ही दयनीय है। प्रदेश में निम्न लिंग अनुपात, बड़े पैमाने पर महिलाओं

में कुपोषण व खून की कमी तथा अधिकांश महिलाओं का वजन निर्धारित मानदंडों से कम होना सब महिलाओं के प्रति भेदभाव व समाज में उनकी निम्न स्थिति को दर्शाते हैं। वास्तविकता में आम महिलाओं का हरियाणा में कोई अस्तित्व ही नहीं है। या तो वह सांस्कृतिक संबंधों बेटी, मां, बहन, पत्नी से जानी जाती हैं या फिर विवाह-शादी में रस्मों-रिवाज निभाने और व्रत आदि रखने के औजार के रूप में प्रयोग की जाती हैं इसके अतिरिक्त उसका ओर कोई अस्तित्व ही नहीं।

हरियाणा की संस्कृति मूल रूप से एक किसानी संस्कृति है, जिसमें समय के साथ कई महत्वपूर्ण बदलाव आए हैं। इसकी गहरी छाप हमारे सामाजिक जीवन में आज भी स्पष्ट नजर आती है। कृषि व्यवसाय की अपनी विशेषताएं हैं, जो कृषि समाज को उसकी अलग पहचान देती हैं कृषि खुले आसमान के नीचे किया जाने वाला एक सरल एवं पारदर्शी कार्य है, जिसमें छुपाने के लिए कुछ भी नहीं होता। हमने किसानी को सदियों जीया है और अपने व्यक्तित्व में आत्मसात किया है। हम हरियाणवी आज भी अपने सहज एवं निष्कपट व्यवहार के लिए जाने जाते हैं सैद्धांतिक तौर पर भी हम सरलता एवं स्पष्टता के कायल रहे हैं। वो चाहे गुरुओं की सीधी-साधी बाणी हो, कबीर के बेबाक दोहे, गुरु जम्भेश्वर का भविष्य के गर्भ में झांकता पर्यावरण बचाओ का दूरदर्शी उपेदश या फिर दयानंद सरस्वती का कर्मकांड से मुक्त सरल समाज का संदेश, सभी को हमने हाथों-हाथ लिया।

कृषि किसी दफ्तर के कोने में बैठकर किया जाने वाला कार्य नहीं है। इसमें तो किसान व उसके परिवार को कंधे से कंधा मिलाकर खेत में काम करना पड़ता है। इसमें बराबरी और भाईचारे का अहसास सहजता से हो जाता था। हरियाणा में सांस्कृतिक रिश्तों में बराबरी बखूबी देखने को मिलती है। दादा, चाचा एवं अन्य नातों में जाति का कोई महत्व नहीं होता। दादा सबके लिए दादा, चाचा सब के लिए चाचा, बेटी सारे गांव की बेटी। किसानों के घर ही नहीं, खेत भी एक-दूसरे से सटे होते हैं। ऐसे में आपसी मेलजोल व लेनदेन के रिश्ते स्वतः ही बन जाते हैं। किसानों के व्यवसायिक हित भी सांझे होते हैं। मौसम एवं मंडी सभी समान रूप से प्रभावित करते हैं इन सबके रहते हमारे कृषि समाज में पारस्परिक लगाव, भाईचारा एवं सामुदायिक भावना आम देखने को मिलती है।

मेहनती होना कृषि समाज की पहली शर्त है। हरियाणा का व्यक्ति मेहनतकश है। मेहनत के साथ ईमानदारी व खुद्दारी छोटी बहनों की तरह आ जाती हैं। कठिन परिश्रम, ईमानदारी और खुद्दारी यही हमारी पहचान रही है। हरियाणा की एक कहावत है, 'कमा के खा लिया और लेके दे दिया'। लेकिन आज यह पहचान कुछ फीकी पड़ गई है। पढ़-लिखकर सयाने हो गए हैं। सत्ता के गलियारों के चक्कर लगाने लग गए हैं।

यदि कठोर परिश्रम कृषि व्यवसाय की अनिवार्यता है तो पौष्टिक आहार परिश्रम के लिए जरूरी है। इसी के चलते, 'देसां में देस हरियाणा जित दूध-दही का खाणा', हमारी सार्वभौमिक पहचान बनी। दूध बेचना घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। 'दूध बेच दिया ऐसा पूत बेच दिया', हमारे यहां आम कहावत थी। बाजारवादी संस्कृति के चलते आज हमारे खानपान की आदतें बदल रही हैं। मैगी, न्यूडल, पीजा व कोला युवा पीढ़ी की पसंद बन रही है। गाय का हमारी संस्कृति में स्थान होता था। इससे जहां खाने-पीने के लिए दूध-दही मिल जाता था। वहीं खेती करने के लिए बैल व बछड़े भी मिल जाते थे। अब कृषि का बड़े पैमाने पर मशीनीकरण हो चुका है। गाय का महत्व सांकेतिक ही रह गया है। वास्तव में तो ट्रैक्टर, थ्रेसर और ट्यूबवैल ही आज के ब्रह्मा, विष्णु व महेश हैं।

शारीरिक रूप से मजबूत होना भी कृषि व्यवसाय की एक आवश्यकता है, जिसके लिए कुश्ती, कबड्डी जैसे खेलों को अपनी संस्कृति का हिस्सा बनाया। प्रत्येक किशोर के लिए अखाड़े में जाना उतना ही अनिवार्य होता था, जितना कि आज उसके लिए स्कूल जाना। इन खेलों से जहां एक ओर मजबूत शरीर का निर्माण होता है, वहीं समानता का भी अनूठा अहसास होता है। वैसे तो हर खेल समानता का अहसास दिलाता है लेकिन यह अहसास कुश्ती व कबड्डी में अपने शिखर पर होता है। इन खेलों को खिलाड़ी एक-दूसरे से दूर रहकर नहीं खेल सकते, सब छुआछात से परे शारीरिक स्पर्श इनकी अनिवार्यता है। इन खेलों के खेलने में कोई लागत भी नहीं आती। ये बिना लागत के खेल हैं, जिन्हें अमीर-गरीब सब खेल सकते हैं। कुश्ती के बड़े-बड़े दंगल लगते थे, जिनमें सभी जातियों के पहलवान एक-दूसरे से कुश्ती करते थे एवं बराबर का सम्मान पाते थे। सभी जातियों के लोग एक-दूसरे से सट्ट कर खड़े होकर या इकट्ठे जमीन पर बैठकर समान रूप से कुश्तियों का आनंद लेते थे। आज भी ये हमारे लोकप्रिय खेल हैं और इनमें हमारा राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दबदबा है। हां ये बात और है कि अब दूसरे खेलों की तरह इनका भी व्यवसायीकरण हो रहा है।

खेती जोखिम भरा धंधा है। मौसम व भाव की अनिश्चितता बराबर बनी रहती है। ऐसे में इसके लिए साहस चाहिए। साहस हरियाणा की पुरानी परम्परा रही है। खाद्य सुरक्षा हो या सीमाओं की सुरक्षा दोनों में ही हरियाणा अग्रणी रहा है। हाजिर जवाबी भी हमारी एक खास पहचान रही है। हाजिर जवाबी कोई अलग चीज नहीं, बल्कि साहस व ईमानदारी का ही रूप है। 'जैसा सोचा वैसा कह

दिया'। जैसा महसूस किया, व्यक्त कर दिया, बिना किसी परिणाम की परवाह किए। और इसके लिए साहस चाहिए। हरियाणा का समाज जिंदादिली के कारण जाना जाता है। हंसी-ठट्ठा, चुटकले-ठिठोलियां आम जीवन का गहरा हिस्सा हैं, जिससे लोग ऊर्जावान रहते हैं।

मुझे एक अनुभव याद आ रहा है। हमारे गांव के पास एक नहर थी। कई हफ्तों के इंतजार के बाद उसमें पानी आता था। जब पानी आता था तो हम सब बच्चे लाठी-डंडे लेकर नहर पर जाते और उसके 'मोंड' (अगले हिस्से) की लाठी-डंडों से पिटाई करते थे। हम उसकी आरती नहीं उतारते थे, पूजा नहीं करते थे कि तू जल्दी आना। बल्कि पीटते थे कि तू देर से क्यों आई, यह खालिस हरियाणवी अभिव्यक्ति थी।

हमारे लोकगीत अपनी सरलता एवं मधुरता के लिए जाने जाते हैं। इनकी तर्ज पर बने फिल्मी गीत आज राष्ट्रीय पहचान बना रहे हैं। हमारे लोकगीत अपनी विविधता के लिए भी प्रसिद्ध हैं हर गीत किसी विशेष ऋतु या मौके का भाव लिए होता है। सावन, कार्तिक और फाल्गुन के गीत अलग-अलग होते हैं। शादी के गीतों की विविधता तो देखते ही बनती है। भात, फेरों व विदाई के गीतों की अपनी-अपनी नजाकत होती है। हमारे प्रमुख वाद्ययंत्रों बीन-बांसुरी घड़वा-तुम्बा, चिमटा-खड़ताल पर किसानी की स्पष्ट छाप है। ऐसे साधारण वाद्ययंत्रों से मधुर से मधुर संगीत निकालना संगीत कौशल एवं रचनात्मकता का प्रमाण हैं। स्वांग जहां मनोरंजन स्थल होते थे वहीं स्कूल, धर्मशाला, चौपाल, अस्पताल आदि सामूहिक सुविधाएं जुटाने के लिए धन एकत्रित करने का महत्वपूर्ण साधन भी होते थे। सिनेमा और टेलीविजन के बढ़ते प्रसार से हरियाणवी संस्कृति की यह महत्वपूर्ण विधा तेजी से लुप्त हो रही है।

आज हरियाणा की संस्कृति एक मुश्किल दौर से गुजर रही है। औद्योगिककरण, शहरीकरण और शिक्षा के प्रसार के बढ़ते सदियों पुरानी किसानी संस्कृति अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है। कृषि क्षेत्र का महत्व लगातार कम हो रहा है। इसका उत्पादन व रोजगार में हिस्सा घट रहा है। गैर कृषि व्यवसायों से रोजी-रोटी कमाने वालों की संख्या बढ़ रही है। किसानों की अपनी ही पहचान पतली पड़ती जा रही है। बड़ी संख्या में किसान अपनी जमीन को स्वयं काश्त न करके ठेके पर दे रहे हैं और नाममात्र के ही किसान रह गए हैं। छोटे एवं सीमांत किसान मजदूरी करने पर विवश हो रहे हैं।


सेमिनार में उपस्थित श्रोतागण

शहरीकरण व शिक्षा के बढ़ते प्रसार के साथ हरियाणा की बोली बोलने वालों की संख्या लगातार घट रही है। हरियाणवी बोली हिन्दी भाषा का शिकार हो रही है। हिन्दी की समीपता इसे खाए जा रही है।

इसको हरियाणा में शहरीकरण प्रक्रिया की विडम्बना ही कहिए कि गांव से शहर में आकर बसने वाले परिवार अपना धर्म, जाति, गोत्र एवं गांव का नाम तो साथ ले आते हैं, लेकिन अपनी बोली वहीं छोड़ आते हैं। प्रगति के नाम पर हम अपने बच्चों को हरियाणवी बोली से दूर रख रहे हैं। बोली महज बातचीत का ही

औजार नहीं है। यह संस्कृति का वाहक भी है। बोली के बगैर संस्कृति बच ही नहीं सकती।

अंत में हरियाणा की संस्कृति के समक्ष कुछ मौजूदा चुनौतियों को आप से सांझा करना चाहता हूं। निश्चित तौर पर सबसे बड़ी चुनौती तो हरियाणवी बोली को बचाने की है। हमें ये समझना होगा कि बोली ज्ञान का भंडार एवं एक महत्वपूर्ण स्रोत होता है, जिससे हम अपने बच्चों को वंचित नहीं रख सकते। माना हिन्दी भाषा हरियाणवी बोली के करीब है लेकिन हरियाणा की संस्कृति से कोसों दूर है। बोली में क्षेत्र विशेष की महक होती है। लहजा होता है। उसका एक-एक शब्द संस्कृति से सराबोर होता है। बोली किसी भी अनुवाद से परे होती है। हरियाणवी बोली को बचाना वक्त का तकाजा एवं सांझी जिम्मेवारी है। इसके लिए आवश्यक है कि रचनाकार अपनी रचनाएं हरियाणवी बोली में लिखे और सरकार एवं हरियाणा साहित्य अकादमी इसको एक नीति के तहत प्रोत्साहन दे। हरियाणा शिक्षा बोर्ड व प्रदेश के विश्वविद्यालय इन हरियाणवी में लिखी रचनाओं को अपने पाठ्यक्रमों में उचित स्थान दें। राष्ट्रीय स्तर पर हरियाणवी बोली एवं संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार के लिए 'ब्रांड एम्बैसेडर' नियुक्त करें। लेकिन इससे पहले जरूरी है कि हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी पहचान बनाएं। आज प्रसिद्ध अभिनेता आमिरखान हरियाणवी बोली सीख रहा है वो इसलिए कि हमने खेलों में राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर अपनी पहचान बनाई। जब हम दूसरे क्षेत्रों में अपनी पहचान बनाएंगे, तो दूसरे लोग भी हमारी बोली सीखने का प्रयास करेंगे।

एक अन्य चुनौती हरियाणा को सांस्कृतिक तौर पर समृद्ध बनाने की है। इस दिशा में हमें कुछ ऐसे ही प्रयास करने की आवश्यकता है। जैसे हमने खेलों के क्षेत्र में करके अपनी पहचान बनाई। खेलों की भांति हमें एक सुदृढ़ सांस्कृतिक ढांचा बनाना होगा एवं सांस्कृतिक विकास के लिए एक ठोस नीति तैयार करनी होगी। देहात एवं शहरों में पुस्तकालयों, नाट्यशालाओं, सांस्कृतिक केंद्रों एवं मंचों की श्रृंखला स्थापित करने की आवश्यकता है। दूसरी ओर साहित्यकारों, कलाकारों एवं सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाओं को एक योजनाबद्ध तरीके से बढ़ावा देना होगा। एक और गंभीर चुनौती तेजी से बदलते परिदृश्य में एक सर्वसमावेशी हरियाणा की छवि बनाने की है, जिसमें प्रदेश के सभी क्षेत्र, समुदायों एवं वर्गों की झलक हो। क्षेत्र की दृष्टि से हरियाणा एक छोटा राज्य है पर सांस्कृतिक विविधता बहुत है। सभी विविधताओं को चिन्हित करने एवं रचना का केंद्र बनाने की आवश्यकता है। इन सब को मिलाकर ही पूरे हरियाणा समाज की 'सांझी' पहचान बनेगी।

अमन वाशिष्ठ , रोहतक

हरियाणा के साहित्य का दस्तावेजीकरण हुआ है शंकरलाल यादव, भीमसिंह मलिक के निर्देशन में सैंकड़ों शोध हुए। 'जनसत्ता' में एक गांव की कहानी शुरु हुई जिसमें बहुत से गांवों के बारे में जानकारियां सामने आई। 'हरियाणा संवाद' में भी लगातार दस्तावेजीकरण होता रहा है, लेकिन इस दस्तावेजीकरण में अतीत के प्रति अतिरिक्त मोह का भाव स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है। संस्कृति को स्थैतिक स्थिति में समझकर और बदलाव के साथ साथ समझने की आवश्यकता है।

दस्तावेजीकरण में अतीत के गौरव के अतिरेक से ग्रसित न हो। वरना तो ग्रामीण महिला पर बात करते हुए कहा जाएगा कि कितना सोणा ओल्हा (सुंदर घूंघट) है। जरूरत इस बात की है कि घूंघट के सौंदर्य के साथ-साथ नारीवादी दृष्टि से उसका विश्लेषण हो। गांव में मौजूद भिति चित्रों व लोक कला तो हों, लेकिन गांव में मौजूद जातिगत द्वन्द्व भी हो। तमाम सामाजिक आयामों को देखने की आवश्यकता है। गांव के अतीत का उत्सव मनाने के साथ-साथ उसमें मौजूद समस्याओं को प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। ध्यान रखने की बात यही है कि दस्तावेजीकरण न तो अतीत की रोमानियत से ग्रस्त हों और न ही अतीत के प्रति उपेक्षा का भाव हो। एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। उदाहरण के तौर पर प्रेम चौधरी ने हरियाणा का दस्तावेजीकरण किया है उसमें गांव की रोमांटिक तस्वीर नहीं, बल्कि वहां के अन्तर्विरोध है।

हम कंशेसन सीकर इसलिए हो गए हैं कि पूरा भारत जब स्वतंत्रता आंदोलन में था तो हम लेजस्लेटिव राजनीति में लगे थे। पंजाब की राजनीति पर निगाह डालें तो उसमें संघर्ष तो हैं, लेकिन जोर इसी पर है कि किसी न किसी तरह से सत्ता के गलियारों में पहुंचा जाए। यूनियनिस्ट, जमींदारा पार्टी की राजनीति की परंपरा है हमने मान लिया कि काम कैसे होगा कि विधायक की जेब में परची डालने से।

■

उर्दू लोक कथा

बेहतरीन फूल

एक दिन अकबर ने अपने दरबारियों से पूछा, 'आप लोगों की राय में बेहतरीन फूल कौन सा है?'

कोई जवाब न दे सका।

आखिर बीरबल की बारी आई। उसने कहा, 'बेहतरीन फूल वह है जो सारी दुनिया का तन ढकता है।'

उसके जवाब में अकबर बहुत खुश हुआ।

जोगा सिंह

दो एक साल पहले अपने दोस्त को फोन किया कि उसने कहा कि मेरी झूठ की दुकान चल रही है। वह प्रोपर्टी डीलर है। भारत ने झूठ से प्रेम कर लिया है। हमारे दिमाग में झूठ बिठा दिया कि समस्त कलाएं और साहित्य तो यूरोप में है। सेक्सपीयर ही महान साहित्यकार हैं, हमारे साहित्यकारों को तो कुछ पता ही नहीं। अपनी धरोहर, विरासत की समृद्धि के प्रति उपेक्षा है। अपनी संस्कृति को गरीब न समझें, उसका विश्लेषण करें। उसे अपनाएं। मैं गांव के आदमी की समझ के आगे मूर्ख नजर आते हैं। प्रोफेसर के बारे में खास तौर पर कह सकता हूं।

हमने आर्थिक विकास किया, लेकिन लोग आत्महत्या कर रहे हैं। मैने अपने बचपन में कभी आत्महत्या नहीं सुनी। कभी कभार ऐसा हो भी जाता था तो सारा गांव शोक में डूब जाता था और ऐसा मानता था मानो कि प्रलय आ गई हो। अब हर रोज आत्म हत्याएं हो रही हैं। गांव के अभावग्रस्त जीवन था, खाने को कुछ नहीं था, लेकिन कोई आत्महत्या नहीं करता था। अब वैसे अभाव तो नहीं है, लेकिन हम आत्महत्या करने पर उतारू रहते हैं। इसका कारण है कि सांस्कृतिक तौर पर हम खोखले हो चुके हैं। हमने झूठ से प्यार कर लिया है।

हम एक खोखली भाषा बोलते हैं, जिसे हम मानक भाषा कहते हैं। इससे हमारा जुड़ाव नहीं होता। हमारे दिमाग में बिठा दिया कि अंग्रेजी से ही हमारा बेड़ा पार होगा। इसी भाषा से ही हम तरक्की करेंगे, लेकिन आंकड़े कुछ और ही कहते हैं। सत्रहवीं शताब्दी में दुनिया के कुल उत्पादन का 22 प्रतिशत भारत में पैदा होता था। आज दुनिया का ढाई प्रतिशत है। किसी को अंग्रेजी नहीं आती थी, लेकिन अब हमें खूब अंग्रेजी आती है पर हमारा दुनिया में व्यापार कम होता जा रहा है। शिक्षा का भट्ठा बैठ रहा है। 1990 के बाद अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा अपनाने से हमारी शिक्षा व्यवस्था बरबाद हो रही है।

स्कूल-कालेजों-विश्वविद्यालयों की शिक्षा का स्तर निरंतर गिरता जा रहा है। यहां तक कि अंग्रेजी में भी हमारा स्तर गिर रहा है। अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा से अंग्रेजी तो नहीं आती। भाषाशास्त्री होने के नाते विश्वास से मैं ये बात कह सकता हूं कि जो बच्चा मातृ भाषा में शिक्षा ग्रहण नहीं करता उसे अंग्रेजी भी नहीं आयेगी। ये बात हो रही है कि हम संप्रेषण नहीं कर पाते, अपने को अभिव्यक्त नहीं कर पाते उसका कारण है हमारी दिमागी गुलामी है। नीति-निर्माताओं को समझने की जरूरत है कि जब तक दिमागी गुलामी से छुटकारा नहीं पायेंगे, तब तक न शिक्षा का विकास होगा और न आर्थिक विकास होगा, न संस्कृति बच पाएगी।

■

रविन्द्र गासो

संस्कृति हमारे सामाजिक संबंधों की आंतरिकता है उसकी अभिव्यक्तियां हुई हैं तरह-तरह से। यही हमारी धरोहर है। संस्कृति की बुनियाद है हमारा काम-धंधे। काम के तरीके उत्पादन के साधन अलग-अलग दौर में अलग-अलग रहे हैं वे हमारी विरासत है। उसको जानना समझना, उसकी सूझ-बूझ को जानना। वही हमारा इतिहास है। यह समझने के लिए हैं पूजने के लिए नहीं।

हमने बड़े-बड़े भवनों को संजो के रखा हुआ है उसको पूजने या धोक मारने के लिए नहीं रखा हुआ। बल्कि उसकी समझ को, बनावट को जनता और सत्ता के संबंधों तथा जनता के परस्पर संबंधों को जानने के लिए। संस्कृति निरंतरता है। इस बात को अनदेखा किया जा रहा है, कि समय के साथ संस्कृति बदलती है और हमें इस बदलाव का स्वागत करना चाहिए। इसके प्रति ऐसे भाव की आवश्यकता नहीं कि पुरानी चीज तो रही नहीं। उसका मर्शिया पढ़ने लगें। सवाल है कि बदलते समय के साथ हम संबंधों को बदल पा रहे हैं या नहीं। संस्कृति का धर्म व जाति के साथ कोई संबंध नहीं है, बल्कि संस्थागत धर्म व जाति संस्कृति को नाश करने वाले हैं। हमारे जीवन में धर्म भी है जाति भी है लेकिन संस्थागत रूप में नहीं है। ये निहित स्वार्थों के कारण बनी हैं। यदि संस्कृति को बचाना है तो संस्थागत धर्म व जाति को समझते हुए इनके खिलाफ भी काम करना होगा।

नाराजगी गुम हो गई

कश्मीरी लोक कथा

एक आदमी अखरोट के पेड़ के नीचे बैठा था। पेड़ के पास कद्‌दू की एक बेल थी। बेल के एक बहुत बड़े कद्‌छू पर उसकी नजर पड़ी। उस आदमी ने नाराजगी से कहा, 'भगवान तुम्हारी मूर्खता का भी जवाब नहीं! इतने बड़े पेड़ के इतना सा फल और इस जरा सी बेल के इतना बड़ा फल! अगर इस विशाल पेड़ पर कद्‌दू लगते और इस बेल पर अखरोट तो मैं तुम्हारी बुद्धिमानी को मान जाता।'

उसका यह कहना हुआ और एक अखरोट टप से उसके सर पर गिरा। वह चौंक पड़ा। बोला, 'प्रभु, तुम्हीं ठीक हो। अगर इतनी ऊंचाई से कद्‌दू मेरे सर पर गिरता तो मैं मर गया होता। तुम्हारी बुद्धि और दया अपार है।'

बलबीर सिंह राठी की रागनियां

1

जब तै पूरी हुई पढाई जी मेरा दुख पाग्या
के बूझेगा बात मेरी मैं जीवण तै तंग आग्या

मैं तै ठाठ तै पढ़्या करूं था घर के दुख पा रहे थे
मेरा खर्च पुगावण नै रूखा-सूखा खा रहे थे
मेरी पढाई खतम हौण पै आस घणी ला रहे थे
मैं सारे दुख दूर करूगां न्यू दिल समझा रहे थे
न्यूं सोचूं था बखत ईब दुख दूर करण का आग्या

जित अरजी द्यों मेरे जिसां की लाईन लागी पावै
मां-बापां नै होया कुप्यारा घर खावण नै आवै
ताऊ-चाचे न्यूं कहें सैं तौं बड़ी नौकरी चाहै
छोटी-मोटी टोहूले नै क्यों हाथ बड़ी कै लावै
सारी बातां नै सुण-सुण कै जी मेरा घबराग्या

भूखा-भाणा फिरूं भरमता ना पीया ना खाया
भाभी फिर बी ताने मारै के टूम घड़ा के लाया
बड्डा भाई छो में आज्या तों हमनै किसा पढ़ाया
कितणी बड्डी गलती कर दी न्योंए घर लुटवाया
तेरी पढाई नैं के चाटैं, तो सारा घर उघवाग्या

सारे सपने धूळ में मिलगे मुशकल जीणा होग्या
माणस-माणस के तान्यां का जहर भी पीणा होग्या
बेरा नां के सोच्या करदा, मैं माणस हीणा होग्या
के ब्याह-टेले की बात करैं मनै मुशकल जीणा होग्या
या बिपता तौ न्युएं रहैगीं कमल मनें समझाग्या

2

इब लुटेरे और कमेरा में बन्ध ग्या सै पाळा
एक ओड़ होणा होगा अड़ै कोन्या बीच बिचाळा

चौगरदे तैं लुटण लाघऱ्या कित-कित तैं समझावैं
तनै बावळा राखण खातर कितने पेच लड़ावैं
धरम-करम की बात करैं न्यों तनै लूट कै खावैं
कुछ जात-पात की बात करैं न्यों तनै भकावण आवैं
इतणा प्यारा क्यों लागै सै तनै भकावण आळा

तेरे छोरे बणैं सन्तरी करड़ा हुकम बजावैं
उनके बेटे अफसर बण कल्बां में मौज उडावैं
कदे लड़ाई हो तै साबण पी कै घर आ जावैं
तेरे छोरे कट-कट मरज्यां देश का मान बढावैं
फेर बी मालिक वहे देश के तों देश का किसा रुखाळा

बिना नौकरी तेरा छोरा छुरे चलाणा सीखे
बणै बिकाऊ झूठी साची बात बनाणा सीखै
बेईमानां की करै गुलामी हुकम बजाणा सीखै
पीसे आळे मस्टण्डां के नारे लाणा सीखै
मुफत की रोटी खाणा सीखै, पड़ज्या फेर कुढाळा

उन का धन तै रोज बधै तम होते जाओ कंगले
थारै कच्चे-पक्के ढारे उनके बढिया बंगले
सुख चाहवै तै अपणे आप नै नए रंग में रंग ले
क्योकर अपणी लड़ै लड़ाई सीख थोडा सा ढंग ले
काम करणीयें तनै कदे तै हुकम सुणण का ढाळा

इब इस दल दल तैं लिकड़न की तदबीर बणाणी होगी
जात-पात की बात छोड़ या बात पुराणी होगी
तों बी इब तै होज्या स्याणा या दुनिया स्याणी होगी
लूटणीयां की जब जाकै न खतम कहाणी होगी
कट्ठे मिलकै ललकारांगे फेर पाटैगा चाळा

ठाली बैठे ऐश करैं उनके घर में धन माया
काम करणीय. तेरै घर टोटा हुऐ सिवाया
तनैं कमल   तैं पूछा कोन्या यो किसनै जाळ बिछाया
जिसमैं फंस के तेरे जिस्सां की काळी होगी काया
घणी सदियां दुखी रह लिया ले ले ईब सम्भाळा

■

उस्ताद धुलिया खान

रोशन वर्मा

हम बहुत से बड़े-बड़े नाम और काम से ख्यातिनाम लोगों को याद रखते हैं। मगर इन बड़े नामों को नायक बनाने और ख्याति के मुकाम पर ला खड़ा करने में किन लोगों का योगदान रहा, यह हम बहुत कम जानते हैं। यहां हम बात करने रहे हैं उस्ताद धुलिया खान जी की, जिन्होंने पं. लखमी चंद को सांग सम्राट लखमी चंद बनाने में बहुत बड़ा योगदान दिया।

उस्ताद धुलिया खान का जन्म 1893 के आसपास दिल्ली की सीमा से सटे गांव बवाणा के मिरासी परिवार में हुआ। इनके पिता उस्ताद धनवा मीर अपने समय के प्रसिद्ध सारंगी वादक थे।

पं. लखमी चंद तेरह-चौदह वर्ष की आयु में सोहन कुंड़ल वाला के सांग बेड़े में अभिनय एवं सांग की बारीकियां सीखने के क्रम में पहुंचे थे। पं. लखमी चंद, उस्ताद धुलिया खान से पहली बार सोहन कुंड़ल वाला के सांग बेड़े में ही मिले। इस बेड़े में लखमी चंद को सांग में जनाना नृतक और सांग खत्म होने के बाद रसोईये का काम भी करना पड़ता था।

उस्ताद धुलिया खान जो उम्र में लखमी चंद से सात साल बड़े थे, इस बेड़े में सारंगी बजाते थे। लखमीचंद ने सांग मंचन, गायन कला और नृत्य में निपुणता, एक तरह से उस्ताद धुलिया खान के निर्देशन में ही प्राप्त की। उन दोनों की मित्रता भी ठीक उसी तरह की थी जैसे



फूल और सुगन्ध की होती है। पं. लखमी चंद से इनका गहरा लगाव था।

रात को जब सांग बेड़े के लोग खाना खा कर सो जाते, तो लखमीचंद, धुलिया खान के पास जाकर सारंगी पर संगीत सुनने की इच्छा प्रकट करते। धुलिया खान सारंगी बजाते और लखमी चंद घुंघरु बांध कर नाचते। यह उस्ताद धुलिया खान की संगत का ही असर था कि वहां रहकर लखमी चंद ने 6 महीने में ही इतना अच्छा गाना और नाचना सीख लिया।

बाद में जब पं. लखमीचंद ने अपना सांग बेड़ा बना लिया तो वह उस्ताद धुलिया खान को बड़े ही आदर मान के साथ आमंत्रित करके अपने सांग बेड़े में ले आए। जीवन के आखरी पलों तक न केवल मंच पर बल्कि फुरसत के समय में भी संगीतज्ञ और मित्र दोनों की हैसियत से उन्हें अपने आत्मीय एवं आदरणीय के रूप में साथ रखा।

लखमी चंद जब भी कोई धुन रचते और उस्ताद धुलिया खान से सारंगी के मधुर वादन पर उस धुन को सुनते तो झूम उठते और तब एक ही बात उनकी जुबान से निकला करती - उस्ताद। कमाल कर दिया।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में पं. लखमीचंद अस्वस्थ रहे, और सांग नहीं कर पा रहे थे। धुलिया खान भी आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र में देहाती प्रोग्राम में नौकरी करने लगे। एक दिन बीमारी की हालत में लखमीचंद उनके पास आए आक्रोश में कहने लगे - उस्ताद यह नौकरी छोड़ दो, जितना इस नौकरी से मिलता है, मैं दे दूंगा।

लखमी चंद उन पर इतना हक और अपनापन समझते थे कि उन्हें अपनी आंखो से दूर किसी अन्य के अधीन काम करते हुए नहीं देख सकते थे। वैसे भी लखमीचंद को रेड़ियो की रिकार्डिंग और फोटो खींचने वालों से चिढ़ थी और बनावटी तरीके से उपलब्ध सम्मान उन्हें स्वीकार नहीं था ।

सन् 1970 की वर्षा ऋतु की एक प्रातः उस्ताद धुलिया खान के पुत्र शब्बीर हुसैन ने अपने पिता को नौटंकी सांग की एक धुन ''कहियो रै उस नौटंकी गौरी नै'' को सारंगी पर बजाते और साथ-ही-साथ रोते देखा। कारण पूछे जाने पर शब्बीर को उत्तर मिला - गाणा बजाणा तो लखमी चंद के साथ था, अब तो

रोजी-रोटी के लिए सारंगी उठाणी पड़ती है।

पं. लखमी चंद के सांग बेड़े का वातावरण इतना कलामय था कि उनके साथी कलाकार अपने आप में केवल कलाकार न रहकर एक संस्था बन गये थे। उस्ताद धुलिया खान अपने सारंगी वादन से समां बांधते, इतनी मनमोहक और मधुर धुनें बजाते कि स्वर्गीय उस्ताद शकूर खान और उस्ताद साबरी खान जैसे विख्यात सारंगी वादक भी नतमस्तक होकर इनके संगीत माधुर्य की सराहना और भूरी-भूरी प्रशंसा करते थे और कहते थे कि इनका सारंगी माधुर्य अतुल्य है ।

लोक संगीत के संगीत सम्राट उस्ताद धुलिया खान जैसे कला साधक सुनसान जंगल के सुगन्धित फूलों की तरह नागरिक जीवन की दृष्टि से दूर बने रहते हैं, और दरबारी संगीत की शिक्षा प्राप्त सामान्य कलाकार स्वनाम का प्रचार कर खुब ख्याति अर्जित करते रहे हैं। वर्ष 1928 से 1943 तक वह लखमी चंद के सांगो में हर रोज हजारों दर्शकों को संगीत से सम्मोहित करते रहे।

लोक संगीत में प्रसिद्ध 'डोल्ली' और 'सोहनी' दो ऐसी तर्ज हैं, जिनके वह सिद्धहस्त कलाकार थे। आम जनधारणा रही है कि लखमीचंद की डोल्ली का आज तक कोई तोड़ नहीं बन पाया है। इसके पीछे भी उस्ताद धुलिया खान की प्रेरणा लखमीचंद के साथ रही ।

26 नवम्बर 1978 को हरियाणवी लोक संगीत को उंचाईयां देने वाला, लखमीचंद का आजीवन मित्र, दार्शनिक व सांगी जीवन का साथी यह संगीत सितारा हमारी इस दुनिया को अलविदा कह गया। इनकी मृत्यु के साथ ही एक सारंगी युग का भी समापन हो गया।

सम्पर्कः 8901099233

■

डा. श्रेणिक बिम्बिसार की कविताएं

धुनकर-बुनकर

तुक-तुक तांय-तांय
शब्दों को रूई सा धुनें
आओ कविता बुनें

चौपाईयों सी लय
थाप हो गज़ल के काफिए सी
दोहों की सुगमता में भर जाए
कबीर सी क्रांति
रसों के तानों-बानों में उलझें
रुपक कुछ ऐसे चुनें
आओ कविता बुनें

छंदों की धड़कन में
चर्खे सी चाल हो
स्वतःस्फूर्त आंदोलन से दमक उठे
कविता का तार-तार
निर्वस्त्र हो जाए राजा की कुटिलता
वस्त्र कुछ ऐसा बुनें
शब्दों को रूई सा धुनें

बेबसी का रंग नहीं
केसरिया बाना हो
छंदों के बन्ध नहीं
मुक्ति-गीत गाना हो
भय-मुक्त अंतस् हो
जब हम तुम सब सुनें

तुक-तुक तांय-तांय
शब्दों को रूई सा धुनें
आओ कविता बुनें।

एक दिन के अखबार का सच

जवान ने खाई गोली
सम्मान नहीं
आई ए एस की मौज
शहीद भगत सिंह की जन्म तिथि पर संशय
बर्थ-डे गिफ्ट से वंचित पी.एम.
एटमी करार लटका
सेना ने ठुकराया वेतनमान
सेंसेक्स लुढ़का
बैंक में पांच-पांच सौ के
जाली नोटों की धरपकड़
बम निरोधक दस्ते की
सरकारी गाड़ी ले उड़े चोर
बिजली से चलेगी डबल डेकर ट्रेन
और शीघ्र आएगी धर्म नगरी तक मेट्रो
डीसी से मिलने गई
ककराला की कुसुम ने
सचिवालय में खाया जहर
प्रेमी पर लगाया यौन शोषण का आरोप
पुलिस से दुखी समालखा की सुमन ने
डीजीपी कार्यालय में दे दी जान
संसद और विधान सभा अध्यक्षों-सचिवों ने
तीन दिन तक
हरियाणा राजधानी में मनाई मौज
और खाए लजीज पकवान
पीछे धर्मनगरी में प्रशासकों ने
उनके साथ
कर्म-योगी और लक्ष्य-साधक अर्जुन के
विशालकाय रथ के आगे खड़े हो
खिंचवाई मनमोहक तस्वीरें
कल से 'वीटा' दूध होगा
और महंगा!!

546/सैक्टर-4, कुरुक्षेत्र, 98130-63291

उसी को देखकर जीते हैं जिस काफिर पे दम निकले

स्वयं प्रकाश

बचपन में जिन तीन किताबों ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया वे थीं गुलीवर्स ट्रेवल्वस, अरेबियन नाईट्स और बेताल पच्चीसी। बच्चों की किताबें ऐसी ही होनी चाहिएं। कल्पना की गगनचुम्बी उड़ान, साहसिक कारनामों और अप्रत्याशित अज्ञात की उत्सुकता से भरपूर। चढ़ती जवानी में जिन तीन उपन्यासों ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, वे थे - हावर्ड फास्ट का स्पार्टाक्स (हिन्दी अनुवाद - आदिविद्रोही - अमृतराय) आस्त्रोवस्की का अग्निदीक्षा और बोरिस पोलेवोय का असली इंसान।

'स्पार्टाकस' की सबसे ज्यादा मार्मिक बात मुझे लगी अटूट प्यार की सर्वथा ठोस और यथार्थ भंगिमा। प्रेम के अंतर्रगतम क्षणों में नायिका नायक से पूछती है - 'मैं मर जाऊंगी तो तुम दूसरी शादी कर लोगे।' नायक कुछ क्षण रुक कर जवाब देता है - 'हां'। नायिका पूछती है - 'क्यों' नायक कहता है - 'क्योंकि जिंदगी हमेशा मौत से बड़ी होती है।' जबकि हमारे देश में बीसवीं सदी का सर्वाधिक लोकप्रिय प्रेम उपन्यास है - देवदास!! (और हिन्दी में? गुनाहों का देवता!!)

कुछ ही किताबें ऐसी होती हैं जो कुछ बताती - बताती कहती नहीं - सीधे आपको एक दृश्य और काल के बीच ले जाकर खड़ा कर देती हैं। आप चाहें खड़े रहें, चाहे उसमें भाग लें, चाहे उसमें भाग न लें। टॉलस्टाय, हेमिंग्वे और जैक लंडन की कुछ किताबें ऐसी ही हैं। यशपाल की 'झूठा सच' और क.मा. मुंशी की 'जय सोमनाथ' भी ऐसी ही किताबें हैं। 'अग्निदीक्षा' आपको इतिहास में एक बेहद गतिशील और रोमांचक दौर के बीचोंबीच ले जाकर खड़ा कर देती है, जिसने एक बार इसे पढ़ लिया, वह कभी भी आंख मूंद कर इतिहास के दस दौर मे पहुंच सकता है।

'असली इंसान' मनुष्य की हिम्मत और हौसले के चरम की चमत्कारपूर्ण और सच्ची दास्तान है। एक बगैर पांव के आदमी के लिए चलना बड़ी चीज है। फिर नाचना! और हवाई जहाज उड़ाना! आप हताशा और अवसाद से घिरे किसी भी शख्स को यह किताब दे दीजिए। अगर उसने इस किताब को पढ़ लिया तो पंद्रह दिन में वह उत्साह से उछल कर खड़ा हो जाएगा।

कालेज पहुंचते ही जिस पुस्तक ने मुझे अपनी चपेट में ले लिया, वह थी अल्बर्टो मोरेविया का उपन्यास 'वूमन ऑफ रोम'। इस किताब को मैं तीन महीने तक पढ़ता रहा, इसी के बारे में सोचता रहा और इसी के सपने देखता रहा। उपन्यास की फटेहाल षोड़सी नायिका अपने चीथड़ों में एक महल में पहुंच जाती है, जहां उसकी हर चीज अप्रासंगिक, अवांछित और विस्थान है। लड़की कुछ देर परेशान और पशेमान रहने के बाद एक आदमकद आईने के सामने अपने सारे कपड़े उतार देती है और कहती है - 'ठीक है! चीथड़ों में मैं कैसी ही सही। अब देखो! है कोई मेरा सारी दुनिया में?' आप से सच कहूं इस दृश्य ने मुझे हिलाकर रख दिया। तब मेरी स्थिति भी कुछ-कुछ नायिका जैसी ही थी। मैं गर्मी में भी इसलिए कोट पहने रहता था, ताकि बुरी तरह फटी कमीजें छिपीं रहें। और कोट भी कैसा? एक टीटी की पुरानी यूनिफार्म को उधेड़ कर बनवाया हुआ। मुझे यह कबूल करने में कोई शर्म नहीं है कि 'वूमन आफ रोम' पढ़ कर एक से अधिक अवसरों पर हेकड़ीबाज और नकचढ़ों को नीचा दिखाने के लिए मैंने अपने सुंदर शरीर का इस्तेमाल किया और हीनभाव और हीनग्रंथि मेरे व्यक्तित्व से सदा-सर्वदा के लिए गायब हो गई। किताब आदमी की जिंदगी को ऐसे बदलती है।

कुछ ही दिन हुए थे कि मेरे हाथ 'दोस्तोएवस्की' की एक 'क्राइम एंड पनिशमेंट' लग गई। उपन्यास का परिवेश भारतीय पाठकों के काफी जाना - पहचाना था और शायद परिस्थितियों का आतंक भी। खासकर मेरे जैसे फिटमारे नौजवानों के लिए। आज सोचता हूं तो मुझे लगता है कि शायद पाठक हमेशा और हर बार किसी न किसी रूप में अपनी ही कहानी पढ़ना चाहता है। 'क्राइम एंड पनिशमेंट' पढ़ने के बाद मैं कई रोज सड़क पर चलते-चलते पीछे मुड़ कर देखता रहा कि कोई मेरा पीछा तो नहीं कर रहा!

दोस्तोएव्स्की की विचित्र बात यह है कि उसकी किसी चीज को विशिष्ट, अनूठी या अद्‌भुत कहकर उंगली नहीं रखी जा सकती। न भाषा, न शिल्प, न कथ्य, न कथानक, न विचार, न विचारधारा, न कल्पना, न जीवन दर्शन, न सैद्धांतिक निष्पति। उसका कुछ भी खास नहीं है, लेकिन फिर

भी समग्र प्रभाव इतना मारक और मर्मभेदी कि हैरानी होती है। दोस्तोएव्स्की को पढ़कर आप कुछ के कुछ हो जाते हैं। मैं तरसता रहा दोस्तोएव्स्की की कोई ऐसी तस्वीर देखने के लिए जिसमें वह हंस रहे हों। या कम से कम मुस्करा रहे हों।

अब संयोग ऐसा हुआ कि अगले ही साल मेरे हाथ काफ्का का उपन्यास 'द कासल' लग गया। 'द कासल' पढ़कर मैं पागल जैसा हो गया। व्यवस्था के दुर्दमनीय दुष्चक्र में फंसे सामान्य मनुष्य के त्रास का सबसे ज्यादा सूक्ष्म विवरण दुनिया में कहीं नहीं। कोई अजब नहीं जो काफ्का ने पाठकों को ही नहीं, लेखकों को भी सारी दुनिया में गहराई तक प्रभावित किया। रचना में डिटेल्स की क्या अहमीयत है यह टॉलस्तोय और काफ्का से सीखना चाहिए।

कामू, काफ्का और कींकगार्द का नाम इतनी बार साथ-साथ आता है जैसे तीनों एक ही बाप की औलाद हों। कामू का 'आउटसाइडर' मुझे ज्यादा पसंद नहीं आता था, हालांकि वातावरण में इसी की ज्यादा चर्चा थी, लेकिन उसके महान उपन्यास 'प्लेग' ने मेरा मन मोह लिया। खासकर इसलिए कि किताब देने वाले ने सुराग दे दिया था कि लेखक प्लेग नामक रोग की नहीं, विश्वयुद्ध की बात कर रहा है। इससे बड़ा और शानदार महारूपक दुनिया के किसी और लेखक ने अपने उपन्यास में इतनी कुशलता और कलात्मकता से साधा हो तो मुझे इसकी जानकारी नहीं है।

मैं सोच में पड़ गया कि क्या हमारे देश में ऐसी रचना पैदा नहीं हो सकती? तभी मेरे साथ लग गया शिवाजी सावंत का उपन्यास 'मृत्युंजय'। इस पुस्तक ने मेरे आत्ममुग्ध लेखक को खींच कर, फींच कर, फचीट कर रख दिया। अब तक मैं 'मृत्युंजय' की बीस से भी अधिक प्रतियां खरीद कर आत्मीय लोगों को भेंट कर चुका हूं। मुझे भारतीय ज्ञानपीठ वालों पर तरस आता है, जिन्होंने इसे ज्ञानपीठ पुरस्कार के योग्य नहीं समझा। यह बात 'वार एंड पीस' को नोबेल नहीं मिलने जैसी रही है। अपनी पूरी जवानी में मैं भी कर्ण जैसा ही था। शूर किंतू दानवीर, अपने हक से हमेशा महरूम, एक 'सूतपुत्र'! मरते-मरते भी 'योगीराज' कृष्ण को जिसके मुंह में हाथ डाल कर सोने का दांत खींचने में रत्ती पर संकोच नहीं हुआ।

यह सच है कि अगर मैं 'मृत्युंजय' नहीं पढ़ता तो शायद महाभारत भी नहीं पढ़ता जिसे मैं सारी दुनिया का महानतम मेगा उपन्यास मानता हूं। यन्न महाभारत तन्न महाभारत! जो महाभारत में नहीं है वह कहीं नहीं है। सुना है वेदव्यास ने महाभारत में सिर्फ दस हजार श्लोक लिखे थे। दस हजार उनके चेले-चपाटियों ने उनके नाम से लिख दिए। आज महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। काश! कोई महाभारत के मूलपाठ की शोध कर पाता।

मेरी स्थिति कभी भी किताब खरीद पाने जैसी नहीं रही। इसलिए मेरा अध्ययन भी व्यवस्थित नहीं है। जब जहां जिस किताब का जुगाड़ हो गया, पढ़ ली। पाठ स्मृति में व्यतिक्रम का भी यही कारण है।

मार्कट्वेन के दो उपन्यासों 'टॉम सॉयर' और 'हकलबरी फिन' की गिनती मैं दुनिया के महान उपन्यासों में करता हूं। मुझे लगता है कि विश्व साहित्य में बच्चों के बारे में अपने सूरदास के बाद सबसे अच्छा मार्कट्वेन ने ही लिखा है। मैं मार्कट्वेन पर फिदा हो गया और उनकी सारी किताबें मैंने ढूंढ-ढूंढ कर पढ़ी। शिकागो टाइम्स में उन्होंने एक स्तंभ लिखा था -'एडम्स डायरी'। वह इतना लोकप्रिय हुआ कि फिर उसके अनुवर्तन में उन्होंने 'ईव्स डायरी' भी लिखी। इनको पढ़ते-पढ़ते मैंने मार्कट्वेन को अपना गुरु मान लिया। दुर्भाग्य से आज तक

कन्नड़ लोक कथा

तूने नहीं तो जरूर तेरे बाप ने किया होगा

एक बार एक मेमना पहाड़ी पर झरने से पानी पी रहा था। उसी समय उससे कुछ कदम ऊपर एक चीता पानी पीने आया। मेमने को देखकर उसने कहा, 'तू मेरा पानी गंदा क्यों कर रहा है?'

मेमना बोला, 'मैं आपका पानी गंदा कैसे कर सकता हूं? मैं तो आपसे नीचे पानी पी रहा हूं।'

'तो कल किया होगा', चीते ने कहा।

'कल तो मैं इधर आया ही नहीं!'

'तो जरूर वह तेरी मां होगी।'

'मेरी मां तो कब की मर गई।'

'तो जरूर तेरा बाप होगा।'

'मेरा बाप? मैं तो उसे जानता ही नहीं।' मेमना बोला और भागने के लिए तैयार हो गया।

'उससे क्या! तेरे बाप ने नहीं तो जरूर तेरे दादा ने या परदादा ने मेरा पानी गंदा किया है। इसलिए मैं तुझे खाऊंगा।' यह कहकर चीता उस पर झपटा और मारकर खा गया।

■

इनका कोई अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध नहीं है। मार्कट्वेन को पढ़ कर मुझे पहली बार अपने देर से पैदा होने पर अफसोस हुआ। मैंने सोचा मैं तब क्यों न हुआ जब मार्कट्वेन भाषण देने भारत आए थे।

शेक्सपीयर के बारे में कहा जाता है कि वह कातिल के साथ मारता है और मक्तूल के साथ मरता है। मुझे यह बात शेक्सपीयर से भी ज्यादा मिखायल शोलोखोव के बारे में सही लगी है।मैं उसके हास्यबोध को देखकर दंग रह गया। मुझे लगा गोगोल और चेखव के बाद यह पहला बंदा रूस में पैदा हुआ है जो खुले दिल से और उसके पात्र मूर्खता करते हैं। ऐसे महान प्यारे और विश्वसनीय मूर्ख मुझे शोलोखोव के अलावा सिर्फ शेक्सपीयर में मिले। डॉन क्विकजोट और सांको पांजा का नाम इसलिए नहीं ले रहा कि वह क्लीशे जैसा हो गया है।

साहित्य में पढ़ा था कि भयानक भी एक रस होता है, लेकिन इसका कोई विश्वसनीय दृष्टांत, प्रमाण या उदाहरण नहीं मिलता था। मान लेते थे भयानक भी कोई रस होता होगा, क्योंकि मानने को कहा जा रहा था। लेकिन मानना पड़ा जैक लंडन का उपन्यास 'व्हाइट फेंग' पढ़कर। सुना है भुवनेश्वर ने इसी से प्रेरित होकर अपनी प्रसिद्ध कहानी 'भेड़िए' लिखी थी। शब्द क्या कर सकता है जो यह जानना चाहते हैं, उन्हें 'व्हाइट फेंग' जरूर पढ़ना चाहिए।

हेमिंग्वे के उपन्यास 'फार हूम द वेल टोल्स' और 'फेयरवेल टू आर्म्स' अच्छे लगे थे, लेकिन मुझे हमेशा लगा कि हेमिंग्वे मूलतः एक कहानीकार थे। इसलिए सर्वकालीन महान उपन्यासों की मेरी सूची में ये दोनों उपन्यास आते-आते रह गए हैं। यही हाल एलेक्स हेली के उपन्यास 'द रूट्स' का हुआ है। हालांकि उसे बहुत मेहनत से और बहुत खोज-बीन के बाद लिखा गया है। इनके स्थान पर मैं डीएच लॉरेंस के 'लेडी चेटर्लीज लवर' को खुशी-खुशी रख लूंगा, जिसका पात्र वेलूथा आज भी मेरी आंखों के आगे चल-फिर रहा है।

यहां मुझे खुद को आश्चर्य में डालते एक उपन्यास का नाम आ रहा है यह है जॉर्ज आरवेल का '1984'। मैं इसके उस दृश्य को नहीं भूल सकता, जिसमें नायक-नायिका खुले मैदान में संभोग कर रहे हैं और इसके तत्काल बाद उपन्यासकार की टिप्पणी है - पर्सनल इज पॉलिटिकल। रचना की महानता का सर्वसुलभ लक्षण है उसका मुहावरा बन जाना। 'डबल स्पीक' और - बिग ब्रदर इज वाचिंग' से कौन परिचित नहीं।

और अंत में मार्ख्वेज, जिनका मैं दीवाना हूं। उनके तीन उपन्यास 'क्रानिकल आफ अ डेथ फोरटोल्ड' 'लव इन दा टाइम आफ कॉलेरा' और 'हंड्रेड इयर आफ सॉलीट्यूड' विश्व साहित्य की अनमोल निधियां हैं। मार्ख्वेज बीसवीं सदी के महानतम उपन्यासकार हैं। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि शब्द से बड़ा सम्प्रेषण का माध्यम कोई नहीं। दृश्य और ध्वनि तो उसके सामने कहीं नहीं टिकते। मार्ख्वेज के उपन्यासों पर कोई फिल्म नहीं बनाई जा सकती। जो ऐसा करने की कोशिश करेगा, वह मार्ख्वेज की रचनाओं का एक घटिया और हास्यास्पद केरीकेचर ही बन पाएगा। मार्ख्वेज जैसी प्रतिभा को हिन्दी में पैदा होने के लिए अभी कम से कम सौ साल लगेंगे।

अब आप जरा कागज कलम लेकर बैठ जाइए और बचपन से अब तक पढ़े गए अविस्मरणीय उपन्यासों की एक सूची बना डालिए। इसे अपनी मेज के ऊपर दीवार पर चिपका दीजिए। जब भी आते-जाते उस पर नजर पड़ेगी, मेरी तरह आप भी सोचेंगे - जिंदगी कितनी खूबसूरत है।

3/33ए ग्रीन सिटी, इ-8, अरेरा कालोनी, भोपाल

■

हरियाणवी कविता

संगीता बैनीवाल

दिन

बाजरे की सीट्टियां पै
खेत की मचाण पै
चिड़ि़यां की लुक-मिच्चणी संग
खेल्या अर छुपग्या दिन।

गोबर तैं लीपे आंगण म्ह
हौळे हौळे आया दिन।
टाबर ज्यूं खेल्या,हांस्या-रोया,
खाया-पिया अर जाग्या-सोया दिन।

बाड़ी के खेत सा झट चिटक्या
अर पट चुग लिया दिन।
सांझ ढळी गठड़ी म्ह बंधग्या
घरां लौट डिगरग्या दिन।

दिन के रंगां नै
कोय मुश्कल समझ पाया
जिसनै बी समझ्या
दिन म्ह तैं टोह ल्याया
एक और दिन।

दीया

सारे दीखैं तोळा-मासा
मैं तो बस रत्ती भर सूं

माटी म्ह मिल ज्यां इक दिन
माटी तैं फेर बण ज्यां सूं
जितना नेह-तेल भरोगे
उतनी राह रोशन कर ज्यां सूं

धरो बाती जिब मेरे हिया पै
हंसते-हंसते जळ ज्यां सूं
फर्क जगहां का देखे बिन मैं
मरघट म्हं बी जळ ज्यां सूं

मैं बांट रोशनी औरां नै
खुद आप तिमिर म्हं घिर ज्यां सूं

सम्पर्क : 09417011424

पुस्तक समीक्षा

दुख कोई चिड़िया तो नहीं

डॉ. विजय विद्यार्थी

जब भी कोई दुख पहुँचता है अमित मनोज यह गीत गाता है 'दुख कोई चिड़िया तो नहीं' यह अभिव्यक्ति न सिर्फ कवि के दुखी या उदास मन की पराकाष्ठा है अपितु समाज के जख्मों पर मरहम लगाने और घावों को भरने की पुरजोर चेष्टा है। यह कवि के हृदय से निकली एक अन्तर्ध्वनि है जो समाज से संघर्ष की राह पर चलने का आह्वान करती है। इस आवाज को सुनकर कौन ऐसा है जो उसके दुख में शामिल न हो जाए। अमित मनोज का दूसरा कविता संग्रह 'दुख कोई चिड़िया तो नहीं' कविता सृजन की ऊष्मा के एक ऐसे विराट विस्फोट की कामना करता है, जिसमें सृजन की ताकत पूरे विश्व में इस तरह बिखर जाए मानो किसान ने खेतों में बीज बिखेरे हों।

'कठिन समय में कविता' के बाद अमित मनोज ने 'दुख कोई चिड़िया तो नहीं' दूसरा काव्य संग्रह पाठकों को दिया है। अमित मनोज समकालीन युवा कविता का ताजा-तरीन चेहरा है। उसकी कविताएं वर्तमान समय की बेचैनी से भरी कविताएं हैं। एक ऐसे समय में जहां सारे जीवन-मूल्य और फर्ज बाजार के आक्रमण के सामने बार-बार पराजित होते महसूस हो रहे हैं। ऐसा ही संदेश 'यह कैसी इच्छा है' कविता में मिलता है

यह कैसी इच्छा है
जब पानी से बुझे न प्यास तो
खून पीना शुरू कर दें
और भूख भी मिटाएँ तो
माँस के टुकड़ों से ही
यह कैसी इच्छा है कि
जीभ को डसवाना चाहें साँपों से
और जिसको भी करें प्यार
उसी के शरीर में फैला दे जहर।

इन कविताओं में वर्तमान भूमण्डलीकरण से उपजे बाजार की आलोचना है। सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और गहरे भावनात्मक प्रवाह के धनी कवि अमित मनोज की कविताएं गहरी संवेदनाओं से परिचय कराती हैं। जिए हुए और जिए जा रहे अपने वक्त का साक्ष्य उनकी कविता में दिखाई देता है जो सिर्फ कविता को बयान नहीं बल्कि उसकी अंतर्ध्वनियों को भी चिन्हित करती जाती है। कुछ ऐसा ही प्रमाण 'चींटियाँ' कविता देती है

चींटियाँ आवाज नहीं करती
पर धरती की सब आवाजें सुनती हैं
चींटियों में सूँघने की शक्ति बड़ी तेज है
वे कहीं भी पहुँच जाती हैं
नए रास्ते बनाती हुई
चींटियाँ जिद्दी हैं
वे जानती हैं कि
जिद्द करने से दुनिया बदलती है।

इस काव्य संग्रह की कविताएं सत्य से साक्षात्कार करवाती हैं। सच्चाई को स्वीकार करने की प्रेरणा देती हैं। दुख का धैर्य और साहस के साथ मुकाबला करना सिखाती हैं। 'दुख कोई चिड़िया तो नहीं कविता कुछ ऐसा ही संदेश देती है

दुख कोई चिड़िया तो नहीं
कि एक बार भागे तो
फिर लौटे ही न
चला जाए दूर जंगल-बियाबान में
कर ले नफरत आदमी से
और भूलकर भी दिखाए न शक्ल उसे
दुख लौटता है बार-बार
रहता है हमारे भीतर घोंसला बना
उड़ता है जब-तब यहाँ से वहाँ।

कवि विकास के नाम पर हो रहे विनाश पर बहुत सारे सवाल खड़े करता है। विकास की बहुत सी परियोजनाएँ मानवीय अधिकारों का हनन करती हैं और मानवीय अधिकारों पर अंकुश लगाती हैं। कवि सवाल पूछता है कि क्या विकास को विनाश की नींव पर ही खड़ा करना लाजिमी है। ऐसे बहुत से सवालों के जवाब हमें और आपको देने होंगे

हमने पेड़ काटे गिलहरियां मारी
चिड़ियों को घोंसलों से भगाया
और विकास की नई इबारतें लिखी।

प्रस्तुत काव्य संग्रह की कविताएं हमारी वास्तविकताओं और सपनों का आख्यान हैं। ये किसी हताशा, निराशा की नहीं अपितु उम्मीद की कविताएं हैं। कवि की निगाह उन लोगों की तरफ भी है जो उम्मीद की लौ को अपनी हथेलियों में सहेजे हुए हैं, ऐसे लोगों पर कवि को पूरा भरोसा है। ऐसी सकारात्मक सोच का प्रमाण देती हैं कविता 'मछलियाँ'

मछलियाँ जब भी प्यार करती हैं
मछुआरे बीच में आ जाते हैं
मछलियाँ जब भी प्यार करती हैं
मछुआरे तालाब का सारा पानी सोख लेते हैं
मछलियाँ तड़फ-तड़फ कर मर जाती हैं।
पर प्यार करना नहीं छोड़ती।

समय का सोपान धीरे से बढ़ जाता है और कविता उस राह में रचने, बसने को फिक्रमन्द रहती है। 'दुख कोई चिड़िया तो नहीं' संग्रह एक बेहतर दुनिया की तलाश है। इस दुनिया में प्रेम और संघर्ष का होना परस्पर जरूरी है। संघर्ष अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है और प्रेम जीवन में रोमानियत भरता है। हालांकि कवि देश की खाप पंचायतों और जातिवाद की नफरत से काफी डरा हुआ भी है। इसका उदाहरण 'यह वक्त घर लौटने का है' कविता में मिलता है

यह वक्त घर लौटने का है
साबुत किसी भी तरह बच-बचाकर
कि जी जा सके एक दिन और
जैसी भी है यह दुनिया।

ऐसी ही घबराहट कवि की 'चिड़िया' नामक कविता में देखने को मिलती है। जो हरियाणा की खाप पंचायतों के संदर्भ में लिखी गई। समकालीन कविता के विहंगम परिदृश्य में यथार्थवादी कविता की अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा रही है और इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए कवि ने इस काव्य संग्रह को पूरा किया है।

जाने कितनी बार चिड़िया के पंखों को
सरेआम उखाड़ा है बाजों ने
कितनी बार चिड़िया का गला घोंटा गया है
और कितनी बार चिड़िया के खून से यह धरती रंगी है।

अमित मनोज के काव्य संग्रह का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा छोटी कविताओं का है। दरअसल यह इस संग्रह का बेहद समृद्ध इलाका है। इन छोटी कविताओं को क्षणिकाएं भी कहा जा सकता है। जो एक कंटीन्यूटी में लिखी हुई प्रतीत होती हैं जिनमें प्रेम, डर, अनिच्छा, पेड़, चींटियाँ, नमक, हंसना और रोना, तुम, मछलियां और बाढ़ इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। इस संग्रह की तमाम कविताओं में अलग-अलग मनोदशाओं और मानसिक उद्वेगों और संवेगों के मनोरम दृश्य हैं, जो कहीं-कहीं कवि के स्वानुभूत अनुभवों का नतीजा भी प्रतीत होते हैं। कुल मिलाकर संग्रह पठनीय है। कुछ बातें पाठकों पर छोड़ते हुए कविता को नमन।

कवि : अमित मनोज, कविता संग्रह : दुख कोई चिड़िया तो नहीं
प्रकाशक : अन्तिका प्रकाशन, गाजियाबाद।

डॉ. विजय विद्यार्थी, पोस्ट डॉक्टरल फैलो, हिन्दी-विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र मोबाईल:9817554004

जगदीप की रागनी

इन गावणियां की बदमासी का आज पाटग्या तोल भाई
हरियाणे की संस्कृति का कर दिया भट्ठा गोळ भाई

सांग के म्हां सांग का भाई मनै भी एक सांग देख्या
भजनी बणकै गाण लागर्या पियें सुल्फा भांग देख्या
गाणा बजाणा सही आवै ना पाड़े न्यारी छांग देख्या
आपणी धुनां नै छोड़ कै फिल्मी की पकड़े टांग देख्या
आपणी धुनां की या नास की राही मैं कहूं बजाकै ढोल भाई
हरियाणे की संस्कृति............

आज पैसा ही पैसा सब कुछ होग्या सारे इसनै चाहूवैं सैं
पिसै की खातिर स्टेज कै उपर भूंडे गीत सुणावैं सैं
ल्याहज शर्म का बीज रह्या ना ना बड्डा छोट्टा लखावैं सैं
इसे श्रोता म्हारे होगे जो भूंडा सुणना चाहूवैं सैं
ज्यब यें ढूंगें मटकावैं सैं थम जिनका करो मखौल भाई
हरियाणे की संस्कृति.........

राजे राणी पराणी कहाणी न्यूए बात बके जां सै
जिसनै सुणकै पब्लिक सारी रुक्के मार छ्यके जा सै
म्हारी बात को कहता कोन्या पराणे खयालात धक्के जां सैं
इसकी आड़ मैं म्हारे आज के मौजूदा हालात लुक्के जां सै
न्यू ए दिन रात बके जां सैं ये मारैं खामखां बोल भाई
हरियाणे की संस्कृति........

स्याणे माणस कहगे भाई लकीर पीटणा ठीक नहीं
आपणा भूलै और का सीखै इसा सीखणा ठीक नहीं
किसे की समझ मैं आवै ना इसा भी लिखणा ठीक नहीं
गाणा बजाणा आवै ना तै ऊंवें चीखणा ठीक नहीं
जगदीप सिंह कह मेरी बात की ना करियो टाळमटोळ भाई
हरियाणा की संस्कृति.......

हरियाणवी गज़ल

कर्मचंद केसर

इसा बखत यू कद आवैगा
माणस नैं माणस चाहूवैगा।।
खेच्चल करकै काम करणियां
कद सुख तै रोटी खावैगा।।
पंचा म्हं परमेशर बोल्लै
दुखिया नैं जिब न्यां पावैगा।।
सब बड्याई के भूखे 'केसर'
किस-किसके तौं गुण गावैगा।।

9354316065

नन्हें पंख

चिड़िया चली चांद के देश,
नन्हें-नन्हें पंख पसारे।
साथ न कोई संगी-साथी,
चली अकेली, बिना सहारे।
ऊपर को वह उड़ती जाए,
बड़े मजे से गाना गाए।
अपने नन्हें पंख हिलाती,
ऊंचा उड़ना उसको भाए।

चंद्रपाल सिंह यादव मयंक

बतूता का जूता

इब्न बतूता पहन के जूता
निकल पड़े तूफान में,
थोड़ी हवा नाक में घुस गई
घुस गई थोड़ी कान में।

कभी नाक को, कभी कान को
मलते इब्न बतूता,
इसी बीच में निकल पड़ा
उनके पैरों का जूता।

उड़ते-उड़ते जूता उनका
जा पहुंचा जापान में
इब्न बतूता खड़े रह गए
मोची की दुकान में!

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

मूंछे ताने पहुंचे थाने

मूंछे ताने पहुंचे थाने,
चूहे जी इक रपट लिखाने।
बिल्ली मौसी हवलदार थीं,
एक दो नहीं, तीन चार थीं।
पहली ने चूहे को डांटा,
दूजी ने मारा इक चांटा।
बढ़ी तीसरी आंखे मींचे।
चौथी दौड़ी मुट्ठी भींचे।
कांप उठे चूहे जी थर-थर,
सरपट भागे अपने घर पर।
फिरते हैं अब तक घबराए,
लौट के बुद्धू घर को आए।

प्रकाश पुरोहित

बेटी की सगाई

बिल्ली मौसी की बेटी की
पक्की हुई सगाई।
अगले दिन बजने वाली थी
उनके घर शहनाई।
सब चूहों के घर बिल्ली ने
संदेशा भिजवाया।
मगर एक भी चूहा उनके
चकमे में न आया।
चूहों ने चिट्ठी भिजवाई,
हम सब हैं बीमार।
दावत में आने से पहले
आया तेज बुखार

डा. आर. अस्थाना

अविस्मरणीय रहा शहीद पत्रकार रामचंदर छत्रपति सम्मान समारोह

प्रस्तुति - बूटा सिंह

साहित्य एवं सामाजिक सारोकारों को समर्पित संस्था संवाद, सिरसा द्वारा शहीद पत्रकार रामचन्द्र छत्रपति की स्मृति में छत्रपति सम्मान समारोह 22 नवम्बर 2015 को पंचायत भवन सिरसा में आयोजित किया गया। इस वर्ष छत्रपति सम्मान श्री अभय कुमार दुबे ,एसोसिएट प्रोफेसर सी एस डी एस, नई दिल्ली को दिया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता कवयित्री व प्रखर चिन्तक श्रीमती शुभा ने की व जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय छात्र संघ के अध्यक्ष कन्हैया कुमार विशिष्ट अतिथि थे। 'बुलंद युवा' समाचार पत्र के सम्पादक श्री रवि शंकर को 'संवाद पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। संवाद के अध्यक्ष श्री परमानन्द शास्त्री ने संवाद संस्था के कार्यक्रमों व उद्देश्यों के बारे में जानकारी दी। संवाद के उपाध्यक्ष श्री हरभगवान चावला जी ने सभी अतिथियों का परिचय करवाया व सह सचिव वीरेंद्र भाटिया ने मंच संचालन किया। डाक्टर हरविन्द्र सिंह जी ने प्रशस्ति पत्र पढ़ा। श्री लेखराज ढोट एडवोकेट ने रामचन्द्र छत्रपति के जीवन के बारे में विस्तार से बताया उसके बाद रामचंद्र छत्रपति के सुपुत्र व 'पूरा सच' समाचार पत्र के संपादक श्री अंशुल छत्रपति ने इस लड़ाई को निर्णायक दौर तक पहुंचाने का संकल्प लिया उन्होंने इस लड़ाई में सहयोग करने वाले सभी साथियों का धन्यवाद किया। इस कार्यक्रम में सिरसा शहर व आसपास के क्षेत्र के बुद्धिजीवी, विभिन्न संगठनों के पदाधिकारी पत्रकार तथा गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे पंचायत भवन का पूरा हाल खचाखच भरा हुआ था। कार्यक्रम की शुरुआत तरन्नुम भारती द्वारा पाश की गजल 'दहकते अंगारों पर सोते रहे हैं लोग' गाकर की गयी।



जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय छात्र संघ के अध्यक्ष कन्हैया कुमार ने अपनी बात रखते हुए कहा कि आज हम अभिव्यक्ति की आजादी के सिपाही को याद कर रहें हैं तथा उनकी याद में पुरस्कार दे रहें हैं। देश के वर्तमान हालात के बारे में बोलते हुये कहा कि दाभोलकर, पान्सारे व कलबुर्गी की हत्याओं के बाद भी ऐसे लोग हैं जो बिकने को तैयार नहीं। सरकारें लंच व डिनर डिप्लोमेसी व अन्य हथकंडो के माध्यम से प्रगतिशील लोगों को उनके पथ से विचलित करना चाहती हैं जब वे इसमें सफल नहीं हो पाते तो नैगम घरानों के एन जी ओ के द्वारा विभिन्न प्रकार के शो के माध्यम से यह करने की कोशिश की जाती है।

इस समय देश की राजनीति एक सपेरे के स्टेशन पर दिखाए जाने वाले के खेल की भांति हो गयी है जिस प्रकार सपेरा खेल तो साँपों का दिखाता है परन्तु अपनी अंगूठियाँ बेच जाता है उसी प्रकार नेता लोग चुनाव के समय वोट तो मांगते है स्वास्थ्य, शिक्षा,रोजगार जैसे बुनियादी मुद्दों को लेकर लेकिन सत्ता में आते ही उनके बयान बदल जाते हैं लोगों का असली मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए धर्म, बच्चे पैदा करने, खाने व पहनावे को तय करने के बयान देते हैं। उन्होंने कहा कि धर्म का इस्तेमाल साम्प्रदायिक मंसूबों को पूरा करने के लिए किया जाता है धर्म को इन्सान ने बनाया है धर्म इन्सान के लिए है भगवान, ईश्वर, अल्ला, खुदा कोई भी नाम लें वो इन्सान के लिए है क्या हमारा खुदा इतना कमजोर है कि उसकी रक्षा के लिए तलवार उठानी पड़े।

वर्तमान समय में हम जिस पूंजीवादी व्यवस्था में रहते हैं वो व्यवस्था पूरी तरह से बेनकाब हो चुकी है तथा वितीय पूंजी को अधिकतम मुनाफा करवाने के लिए सरकारें नियमों कानूनों में ढील दे रहीं हैं। उन्होंने कहा कि दलितों, महिलाओं, अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, श्रमिकों, किसानों व अन्य वंचित तबकों के लिए हमे लड़ना होगा। हमें धर्म से उपर उठकर शिक्षा स्वास्थ्य व लोगों के जीवन से जुड़े बुनियादी सवालों को लेकर लड़ना होगा समता मूलक समाज बनाने के लिए लड़ना होगा हमारे जेहन में यह सवाल आना चाहिए कि जब सबके वोट की कीमत समान है तो जीवन जीने की स्थितियां समान क्यों नहीं?

मुख्य अतिथि अभय कुमार दुबे ने 'सांप्रदायिकताओं की होड़ और हमारी राजनीति' विषय पर भाषण देते हुए कहा कि शहीद पत्रकार रामचंद्र छत्रपति का बलिदान किसी भी कीमत में व्यर्थ नहीं जाएगा। इस कार्यक्रम के आयोजक इस परम्परा से निकले हैं ऐसे बलिदान उनकी जिम्मेदारी को और बड़ा देते हैं। उन्होंने लेखकों की पुरस्कार वापसी पर बात करते हुए कहा कि लेखक कोई बहुत बड़ी हस्तियां नहीं वह देश के विभिन्न क्षेत्रों में रहते हुए विभिन्न भाषाओं में अपना लेखन का रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। देश के लोग उनके कहने से वोट भी नहीं डालते लेकिन फिर भी पुरस्कार वापसी से बहुत ज्यादा बौखलाहट हुयी।

उन्होंने देश में वर्तमान सरकार बनने के तीन मुख्य आधारों के बारे में जिक्र करते हुए कहा कि इनमें से एक देश की मध्यमवर्गीय आबादी जो कि अपनी जिंदगी में बेहतरी चाहती थी उन्होंने भाजपा को वोट दिया। दूसरा मुख्य आधार था कारपोरेट घराने, जिन्होंने चुनाव प्रचार में दसियों हजार करोड़ खर्च किया ताकि सरकार बनने पर अपने मुनाफे को बढ़ाया जा सके देश के इतिहास में पहली बार पूंजीपतियों ने किसी नेता में एक प्रकार से भावनात्मक निवेश किया व एक पार्टी की बजाय एक चेहरे को विकल्प के रूप में पेश किया। तीसरा मुख्य आधार था पूरे देश में हिंदुत्ववादी कार्यकर्ताओं की पूरी कतार। सरकार बनने के बाद इन तीनों आधारों की अपेक्षाओं को पूरा करने का सरकार पर दबाव है।

तीसरे आधार को यह जिम्मेदारी सौंपी गई देश में किसी भी तरह का बड़ा दंगा किए बिना सांप्रदायिकता की चिंगारियों को सुलगते रखा जाए जैसे कि घर वापसी के नाम पर, लव जिहाद के नाम पर, बीफ के नाम पर। ताकि समय गुजरने के साथ यदि सरकार की लोकप्रियता गिरने लगे तो चुनावों के समय इन बातों को मुद्दा बनाकर ध्रुवीकरण करके वोट प्राप्त किए जा सकें।

बहुसंख्यक सांप्रदायिकता एवं अल्पसंख्यक साप्रदायिकता दोनों ही बहुत खतरनाक है दोनों एक दूसरे के लिए खाद पानी का काम करती हैं। अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता भी बहुसंख्यक सांप्रदायिकता को बढ़ावा देती है तथा सांप्रदायिक पार्टियां एक प्रकार से धर्म के नाम पर राजनीति करती है तथा उनकी सारी गोलबंदी भी धर्म के नाम पर होती हैं। इस मामले में बहुत सारे समझदार लोग भी चीजों को जैसे कि बहुसंख्यक सांप्रदायिकता, अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता व धर्मनिरपेक्षता को समझ नहीं पाते तथा एक अजीब किस्म का धुंधलका हो जाता है जिससे लोगों के सामाजिक सांस्कृतिक भाईचारे को नुकसान होता है।

जिस प्रकार से देश में महंगाई बढ़ रही है उसी प्रकार से इस देश में पिछले कई वर्षों से सांप्रदायिकता भी बढ़ रही है। यदि हम इन रणनीतियों को अच्छी तरह से समझना चाहते हैं तो हमें इनके बारे में विमर्श करना होगा हमें समझना होगा कि वास्तव में लोकतंत्र क्या है? असल में लोकतंत्र बहुमत के आधार पर चलता है और बहुमत कभी भी अल्पमत में बदल सकता लेकिन बहुसंख्यकवाद स्थायी होता है इसलिए यह विमर्श भी करना होगा कि कहीं बहुमत बहुसंख्यकवाद में न बदल जाये।

श्रीमती शुभा ने अपनी अध्यक्षीय टिप्पणी में शहीद पत्रकार रामचंद्र छत्रपति की शहादत को सलाम करते हुए कहा कि असल में हमने धर्मनिरपेक्षता को सही अर्थो में समझने की बजाए उसको सर्व धर्म समभाव के रूप में समझा जबकि असल में धर्मनिरपेक्षता को अपनाने की जरूरत है उन्होंने कहा कि हमारे देश में जाति व लिंग के आधार पर आज भी दलितों व औरतों का उत्पीड़न हो रहा है इसका कारण यह है कि हमारे समाज में नवजागरण के रूप में कोई सामाजिक आंदोलन आजादी के समय में इस रूप में नहीं था।

इस अवसर पर कुरुक्षेत्र से प्रो. सुभाष चन्द्र के सम्पादन में प्रकाशित पत्रिका 'देस हरियाणा' के दूसरे अंक का विमोचन किया गया। कार्यक्रम के अंत में संवाद के उपप्रधान श्री गुरबख्श मोंगा ने सभी का आभार व्यक्त किया। इस कार्यक्रम में बार एसोसिएशन सिरसा के प्रधान रमेश मेहता, बलवीर कौर गांधी, महल सिंह, राज कुमार शेखुपुरिया, विजय ढूकड़ा, टोनी सागु, चिरंजी लाल, पुरुषोतम शास्त्री, आर.के. शर्मा, आर. के. सेठी, नवदीप सेतिया, राजेन्द्र ढाबां, ठाकुर शिवराम, सुतंतर भारती, देवेन्द्र सिंह, मनोज कुमार, सुरजीत रेनु, सोहन सिंह रंधावा, सुरेन्द्र भाटिया, प्रवीण बागला, सतीश गुप्ता, कामरेड अवतार सिंह, सुरजीत सिंह, अमर कम्बोज सहित गणमान्य नागरिक उपस्थित थे।

■

रपट

छाप छोड़ गया रेवाड़ी साहित्य महोत्सव

सत्यवीर नाहड़िया

दो दिन, आठ गंभीर साहित्यिक सत्र, रात बारह बजे कवि सम्मेलन, पुस्तक मेला, हस्त शिल्प कला प्रदर्शनी, साहित्य की विभिन्न विधाओं के चर्चित रचनाकारों का बहुआयामी विमर्श, अहीरवाल के साहित्यकारों का प्रेरक प्रतिनिधित्व, रेवाड़ी के अधिकाशं ा साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक एवं राजनीतिक प्रतिनिधियों की गरिमामयी उपस्थिति तथा साहित्य भवन में तब्दील बालभवन!

कुछ ऐसा ही रहा रेवाड़ी साहित्य महोत्सव का नजारा जिसमें देश के दिग्गज रचनाकारों ने विभिन्न विधाओं के शास्त्रीय पक्ष के अलावा प्रश्नोत्तर के खुले मंच से साहित्यप्रेमियों को संवाद स्थापित करने का अवसर तथा विभिन्न वर्गो में विद्यार्थियों एवं प्रभारियों को प्रतियोगी पक्ष में साहित्य को जीने का अनूठा अवसर मिला। दैनिक जागरण समाचार पत्र के एनसीआर क्षेत्र में रजत जयंती वर्ष अभियान के अंतर्गत कराए गए इस साहित्यिक महायज्ञ में विभिन्न पक्षों से रचनात्मक आहुतियां यादगार बन पड़ी।



हिंदी पत्रकारिता के मसीहा एवं हिंदी गद्य के जनक के रूप में लब्धप्रतिष्ठ यशस्वी साहित्यकार एवं मूर्धन्य पत्रकार स्व. बाबू बालमुकुंद गुप्त की ससुराल रेवतीनगर (रेवाड़ी) में 21 व 22 नवम्बर को आयोजित इस दो दिवसीय कार्यक्रम में राष्ट्रीयता के अग्रदूत गुप्त जी का भावपूर्ण स्मरण क.द्रीय भूमिका रही। प्रख्यात गज़लकार बालस्वरूप राही की अध्यक्षता में प्रारंभ हुए इस महोत्सव में जहां वरिष्ठ रचनाकार बलदेव वंशी, प्रो. सादिक, नरेश शांडिल्य ने ऐसे आयोजनों के महत्व पर प्रकाश डाला।

महोत्सव के दूसरे सत्र में 'गज़ल की यात्रा' पर विभिन्न गज़लकारों ने अपने शोध आलेख प्रस्तुत कर गज़ल गालिब से दुष्यंत तक और आगे विषय पर सार्थक चर्चा की। दरवेश भारती की छंद विधान पर जानकारी, प्रो. सादिक व शशिकांत का उर्दू व हिंदी गज़ल का तुलनात्मक अध्ययन, विपिन सुनेजा शायक का उक्त विषय पर शोधपरक आलेख तथा सुरेश मक्कड़ साहिल की गज़ल प्रस्तुति खूब सराही गयी।

'कहानी कहाँ पहुँच गयी' नामक तीसरे सत्र में जहां उषा महाजन व डा.अल्का सिन्हा की कहानियों का वाचनपक्ष तथा कृष्णलता यादव व प्रो. रमेश सिद्धार्थ के प्रासंगिक प्रभावी आलेख खूब जमे। चतुर्थ सत्र में डा. बलदेव वंशी की अध्यक्षता में कविता कहां पहुंच गयी, उसे ढूंढ़ो नामक विषय पर रोचक चर्चा हुई। वरिष्ठ साहित्यकार डा. घमंडीलाल अग्रवाल, बीएल गौतम, राजीव रंजन द्विवेदी, पद्मश्री सीपी देवल, प्रो. रमेशचंद्र शर्मा की चर्चा का सारांश था कि सामाजिक व सांस्कृतिक अवमूल्यन का प्रभाव काव्य सृजन पर पड़ा है।

उक्त सत्र के बाद रात बारह बजे तक चले कवि सम्मेलन में करीब दो दर्जन रचनाकारों ने कविता, गीत-गज़ल, दोहे, मुक्तक

आदि के माध्यम से सामाजिक विद्रूपताओं को रेखांकित किया तथा साहित्यिक चेतना को फैलाने का आह्वान किया।

दूसरे दिन पांचव. सत्र में बीएल गौतम की अध्यक्षता में फेसबुक बनाम कागद लिखी पर चुटीली चर्चा हुई। आशीष कुमार अंशु के संचालन में आयोजित इस सत्र में ई-पत्रिका साहित्यालोक, विविधा व बाबू जी का भारतमित्र के संपाकद रघुविंद्र यादव, वरिष्ठ साहित्यकार टिल्लन रिछार्या तथा चर्चित स्तंभकार आलोक पुराणिक ने फेसबुक, ट्विटर, ब्लाग, गूगल, इंटरनैट से जुड़ी रचनाधर्मिता का कागद लिखी सृजनशीलता से तुलनात्मक अध्ययन के अलावा दोनों के पक्ष प्रतिपक्ष भी रेखांकित किया।

'गज़ल की बारीकियां-बानगी के साथ' नामक छठे सत्र में हिंदी गज़लकार विपिन सुनेजा ने जहां गज़ल के प्रारूप के अलावा गज़ल, नज्म, तेवरी आदि विधाओं का मूल स्वरूप चर्चित बानगियों के साथ प्रस्तुत किया, वहीं गज़लकार शशिकांत ने विभिन्न बानगियों के साथ गज़ल की बारीकियों को रेखांकित किया। अध्यक्षीय टिप्पणी में श्री भारती ने चर्चित गज़लों से उक्त विषय को रोचक बना दिया।

समय अभाव के चलते महोत्सव के अंतिम दो सत्र जोड़ दिए गये जिनमें 'सिकुड़ता शब्द संसार' व 'एक थी पुस्तक', 'एक था प्रकाशक' शामिल थे। पंकज नारायण के संचालन में टिल्लन रिछार्या, अशोक प्रियदर्शी डा. उमाशंकर यादव तथा इन पंक्तियों के लेखक ने संबंधित विषयों की चर्चा में विमर्श किया। समीक्षक डा. नंदलाल मेहता वागीश की अध्यक्षता में समापन सत्र में रचनाकारों एवं सहयोगियों को अलंकृत किया गया। जिला उपायुक्त डा. यश गर्ग का साहित्यिक संबोधन इस सत्र में चर्चित रहा। अध्यक्षीय संबोधन में डा. वागीश ने कहा कि शब्द की सत्ता लोकसत्ता व विश्वसत्ता से भी बड़ी है-यह सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक है। ऐसे आयोजन शब्द की बहुआयामी यात्राओं को रचनात्मक दिशा देने वाले महायज्ञ हैं।

दो दिवसीय उक्त महोत्सव के चलते पीतलनगरी साहित्यिक नगरी बनी रही, जिसे सहेजना वक्त का तकाजा है। पूर्व क.द्रीय मंत्री हुकमदेव नारायण यादव, प्रदेश सरकार के राज्यमंत्री बिक्रम सिंह यादव, रेवाड़ी के विधायक रणधीर सिंह कापड़ीवास, बावल के विधायक डा. बनवारी लाल ने विभिन्न सत्रों में शिरकत कर भाषणबाजी की बजाय साहित्यिक माहौल की गरिमा दी। कुल मिलाकर पूरा महोत्सव संयोजन की दृष्टि से अपने उद्देश्यों में सफल रहा। देखना यह है कि अगले वर्ष यह महोत्सव इस प्रारूप में रेवाड़ी में वार्षिक फीचर का रूप लेता है या नहीं।

संपर्कः 9416711141

रपट

गीता जयन्ती म्है तो कमाल ही होग्यो

सुनील कुमार, इकबाल सिंह



कुरूक्षेत्र में हर साल की तरह इस बार भी 11 से 21 दिसम्बर तक 'गीता जयन्ती' उत्सव धूमधाम से मनाया गया। इस बार पहले की अपेक्षा चहल-पहल और रौनक तो ज्यादा थी ही, मेले में चूड़ी-मणकों, चाट-पकौड़ी, सूट दुप्पटों, नाच-गाणे के अलावा एक खास बात भी थी, जो थी साहित्यिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मंच 'देस हरियाणा'। पूरे दस दिन इस मंच पर सबने खुद को अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त किया। देस हरियाणा पढ़ते ही लोगों के मुंह से स्वतः ही उच्चरित होता 'देसां म्ह देस हरियाणा, अपने मतलब की बात'। और फिर जोर-जोर से देस हरियाणा की चौखट पर छपी बुल्लेशाह की ये पंक्तियां पढ़ते-

मस्जिद ढा दे, मंदिर ढा दे,
ढा दे जो कुछ ढेंदा।
पर किसी दा दिल ना ढाईं,
रब्ब दिलां विच रैंदा।

इससे उनका ध्यान जाता जोतिबा फुले की प्रसिद्ध पंक्तियों पर और अपने आप उच्चारण करने लगते, मानो उनके मानसिक पटल पर लिखी हों।

विद्या बिना मति गई,
मति बिना गति गई।
गति बिना नीति गई,
नीति बिना वित्त गया।
इतने अनर्थ एक अविद्या ने किए।

स्टाल में लगे कबीर, रविदास, जोतिबा फुले, भीमराव आम्बेडकर के विचारों व जयपाल की कविताओं को लोगों ने खूब पढ़ा। साहित्यिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के इस मंच पर 15 दिसम्बर को कविता गोष्ठी हुई जिसमें जसबीर लाठरो, कपिल भारद्वाज

व मलखान सिंह ने कविता सुनाई व हरियाणा के लोकगीत भी गाए गए। इस दौरान न केवल उपस्थित श्रोताओं ने बल्कि बाहर खड़े लोगों ने भी कविताओं व गीतों का आनन्द लिया। 16 दिसम्बर की शाम को हरियाणा के साहित्यिक परिवेश पर चर्चा हुई, इसमें हरियाणा की साहित्यिक परम्पराओं और समाज पर बात हुई। खूबी ये रही कि बात बहुत गम्भीर होते हुए भी सहज ढंग से हुई। मलखान सिंह, जसबीर जस्सी, इकबाल, ओमप्रकाश ा करुणेश व जसबीर लाठरो ने जोशपूर्ण ढंग से कविताएं प्रस्तुत की जिनके केन्द्र में किसान रहा। 17 दिसम्बर की शाम को समकालीन समय की जटिलताओं को अपनी कविताओं में बहुत ही सहज ढंग से प्रस्तुत करने वाले 'दरवाजों के बाहर' कविता-संग्रह के कवि जयपाल ने अपनी कविताओं का पाठ किया। छोटे-बड़े दरवाजों से होते हुए कवि ने समाज के सभी पक्षों को खोलकर रख दिया। भगवान से संवाद करते हुए उन्होंने भगवान का जो साधारणीकरण किया वह वाकई कमाल का था। राजविन्द्र चंदी के 'छल्ला वे छल्ला' के साथ शाम सुहानी रही।

19 दिसम्बर को काकोरी काण्ड के शहीदों रामप्रसाद बिस्मिल और अशफाक उल्ला खां की शहादत को याद करते हुए विचार-गोष्ठी हुई। प्रो. सुभाष चन्द्र ने शहीदों के आजाद भारत के सपने व समकालीन परिस्थितियों पर बात करते हुए शहीदों के विचारों की प्रासंगिकता को रेखांकित किया। कुरुक्षेत्र से ओमसिंह अशफाक व राजविन्द्र चन्दी ने इन शहीदों के जीवन व बलिदान को रेखांकित किया। रोहतक से अमन वशिष्ठ ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान चल रही विभिन्न धाराओं का जिक्र करते हुए कहा कि लोकतंत्र ही शासन का सबसे उत्तम विकल्प है। इसी में सभी के विकास के अवसर मिलने की संभावना होती है। लोकतंत्र की मजबूती में योगदान करना ही शहीदों को सच्ची श्रद्धांजलि है।

20 दिसम्बर को स्टाल पर लोकगीतों और रागनियों का धमाल रहा। निर्मल ने हरियाणा की ब्रज, मेवात, खादर, बांगर व बागड़ के लोकगीतों को गाया। सैंकड़ों लोगों ने लोकगीतों का आनन्द लिया। इन गीतों से लोग अपने बचपन को याद कर रहे थे। महिलाएं जब साथ-साथ गा रही थी, उनके चेहरों पर साफ झलक रहा था जैसे उन्हें नया जीवन मिल गया। कपिल ने 'राजा हरिश्चंद्र' के किस्से से 'चस चस हो रही चीस लाग रही, गात बोचियो मेरा' इस अंदाज में गाईं कि श्रोताओं की करूणा उनकी आंखों से व्यक्त हो रही थी। स्टाल पर देसराज सिरसवाल की पुस्तक 'The Religious & Philosophical Dimensions' का विमोचन हुआ। देसराज सिरसवाल ने पुस्तक के बारे में बताया। 21 दिसम्बर को मेला घूमने आई 'उमंग डेमोक्रेटिक स्कूल' गन्नोर की तीस लड़कियों की टीम ने कमाल का गीत 'आज मुझे करनी है पढ़ने की शुरूआत' गाया। विरेन्द्र व राजीव ने नाटकीय अंदाज में कबीर का भजन गाया जिसे सभी लोगों ने पसन्द किया। कबीर के इस गीत में ऊंच-नीच की भावना पर कटाक्ष था तथा बराबरी का संदेश था। 'बेटी बचाओ' का संदेश देते राजीव सान्याल के बोल -

'बेटी बचेगी देस बचेगा,
माटी बचेगी खेत बचेगा।
खेत बचेगा फसल बचेगी,
फसल बचेगी तो नस्ल बचेगी'

सुनकर लोग जहां थे वहीं ठहर गए। इन्होंने कबीर, नानक, बुल्लेशाह के गीतों-भजनों को अपनी डफली और अलगोजे के साथ अदभुत अंदाज में गाया। इनकी आवाज और धुन से सरोवर गूंज उठा। डा. कृष्ण कुमार की प्रेम का संदेश देती गजलों पर जिस तरह मुण्डियां हिल रही थी उससे अनुमान लग रहा था कि गजलें सीधा पाठकों के दिलों में उतर रही थी।

गीता जयन्ती उत्सव पर दस दिन तक देस हरियाणा पत्रिका के स्टाल पर लगातार साहित्यिक गोष्ठियां होती रही। कविताएं, रागनी, लोकगीत, गजल सभी विधाओं की प्रस्तुति हुई और लोगों ने बहुत आनन्द लिया। कार्यक्रमों का सिलसिला बढ़ता ही गया, उनमें गुणात्मक बढ़ोतरी होती गई। लोकगीतों का बुगचा व प्रतिनिधि रागनियां पुस्तक के प्रति आर्कषण से अनुमान लगा सकते हैं कि लोग लोक साहित्य में रूचि लेते हैं। लोगों में पत्रिका के प्रति जिज्ञासा भाव भी था और उससे जुड़ने की ललक भी।

इन दस दिनों में स्टाल पर अनेक लेखकों का आगमन हुआ। कमलेश चौधरी, ओमप्रकाश करुणेश, ओमसिंह अशफाक, हरपाल, देसराज सिरसवाल, राजेन्द्र देसवाल, कृष्ण कुमार, व जयपाल ने लगातार टीम का मार्गदर्शन किया व हौंसला अफजाई की। स्टाल पर बुजुर्गों ने जब रागनियों की पुस्तक ली तो उनकी आंखों में चमक देखकर सारी मेहनत सफल हो गई। इससे टीम को प्रेरणा और उत्साह मिला। देस हरियाणा की टीम के सदस्यों ने दस दिन तक तत्परता से लगातार काम किया। दर्शकों ने देस हरियाणा की स्टाल पर आकर संतुष्टि जाहिर की व हरियाणा की कला, संस्कृति, साहित्य व खान-पान की मेले में कुछ कमी महसूस करते हुए इन्हें बढ़ावा देने की इच्छा भी जताई। जिससे पता चला कि हरियाणा में साहित्य के ग्राहक भी हैं। दस दिन में किसिम-किसिम के लोगों से मिलकर, सुनकर-सुनाकर, बहुत से अनुभवों को संजोकर, टीम पूरी ऊर्जा के साथ बहुत कुछ सीखकर लौटी।

■

अंतहीन संकट

डा. महावीर शर्मा

1929-30 में अमरीका में महामंदी का संकट आया, जिसमें बड़े-बड़े बैंक व अन्य वित्तीय संस्थान दिवालिया हो गए। दुनिया के शेयर बाजारों में अफरा-तफरी फैल गई। इसका व्यापक असर यूरोप व अन्य देशों पर भी पड़ा। यह महामंदी द्वितीय विश्व युद्ध तक जारी रही। अमरीकन सरकार की 'न्यू डील' भी इसका असर दूर करने में असफल रही। याद रहे कि न्यू डील के तहत बहुत भारी मात्रा में पूंजी वित्तीय संस्थानों को दी गई। बैंकों के दिवालिया होने का खामियाजा सरकारों ने भुगता व भविष्य में इन पर निगरानी रखने के नियम बनाए गए।

कीन्सवाद के जन्म का समय भी यही है, जिसमें राज्य नियंत्रण की अवधारणा व उसके 'सोशल वैल्फेयर स्टेट' के विचार के तहत जनता को मुफ्त शिक्षा स्वास्थ्य व अन्य बड़ी जनसुविधाएं उपलब्ध करवाना है। यह सब कुछ किया गया, ताकि बेरोजगारी की बढ़ती दर पर लगाम कसे। लोगों की क्रय शक्ति बढ़े और मंदी दूर हो। पर यह सब भी पूर्ण समाधान न बन सका। हां इससे कुछ राहत जरूर प्राप्त हुई। इस महामंदी के दौरान व उसके बाद 1950 में आते-आते सभी धाराओं के अर्थशास्त्रियों ने इसके कारणों पर अपनी दो प्रस्थापनाएं प्रस्तुत की। कीन्स, शूमपीटर, बरान, मैगडाम व स्वीजी इनमें मुख्य हैं। बेशक, कीन्स ने भी बेलगाम वित्तीय सट्टेबाजी को ही महामंदी का कारण बताया, लेकिन शूमपीटर व बरान व स्वीजी की जोड़ी के बीच चली लंबी बहस से ये स्पष्ट हो गया कि कीन्स का सिद्धांत अविकसित है। शूमपीटर से भी एक कदम आगे जाकर, स्वीजी, बरान व मैगडाफ ही थे, जिन्होंने उसी समय वित्तीय एकाधिकारी पूंजी के सट्टेबाज रूप व इसकी गतिकी-यांत्रिकी को पहचान लिया था। उन्हीं की कुछ सबसे महत्वपूर्ण प्रस्थापनाओं के आधार पर ही प्रस्तुत पुस्तक 'एण्डलैस क्राईसिस' (अन्तहीन संकट) फोस्टर व मैक्केरूनी ने 2007 की महामंदी पर लिखी है।

यह पुस्तक एक तरह से 2009 में प्रकाशित हुई फोस्टर व मैगडाफ की पुस्तक 2007 का महासंकट, कारण व दुष्परिणाम की अगली कड़ी है। ये दोनों पुस्तकें हमें स्वीजी, बरान व मैगडाफ के योगदान का महत्व दर्शाती हैं, जिन्होंने 1940-42 में ही हमारी दुनिया के आर्थिक भविष्य को स्पष्टता से पहचान लिया था। 1966 में छपी 'द मोनोपोली कैपिटल' व इसके बाद अपनी दर्जनभर दूसरी रचनाओं में ये सफर जारी रहा और 1990 में छपी 'मोनोपोली कैपिटल आफ्टर 25 इयर्स' में ये सफर एक ऐसी मंजिल पर पहुंचा कि आज पूरे विश्व के आर्थिक-राजनीतिक पटल पर, इस विषय पर एक जोरदार बहस छिड़ी हुई है। 'अंतहीन संकट' इस बहस में सबसे बड़ा सकारात्मक योगदान है, जो हमारी दुनिया की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक दिशा का स्पष्ट ज्ञान करा रहा है।

1. आखिर वे क्या प्रस्थापनाएं हैं, जिन पर यह पुस्तक आधारित है? पहली दो महत्वपूर्ण प्रस्थापनाएं ये हैं - 1930-40 के दशक का महाठहराव, महामंदी, एकाधिकारी वित्तीय पूंजी की बेलगाम सट्टेबाजी के कारण है जो महज एक इतेफाक न होकर, इसकी चारित्रिक विशेषता है। यह वित्तीय पूंजी का उत्पादन पूंजी के सहायक के रूप में काम करने की बजाए उसके सिर पर बैठने से भी आगे की बात है। इसमें पूंजी की चारित्रिक विशेषता यानी संचय के नियम के चलते जो भी अतिसंचय है उसका विनाश करना ही पड़ता है।

2. पूंजीवाद की प्रोढ़ावस्था में 'ठहराव/मंदी' कोई चक्रीय रूप से घटने वाली चीज नहीं रह जाती, बल्कि इस अवस्था की चारित्रिक विशेषता बन जाती है। यानी की प्रौढ़ पूंजीवाद (मैच्योर कैपिटलिज्म) ठहराव पर ही पलेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो ठहराव व मंदी स्थायी परिघटना है। 'अन्तहीन संकट' के प्रथम दो अध्याय एकाधिकारी वित्तीय पूंजी और संकट, दूसरा पूंजी संचय का वित्तीयकरण। उपरोक्त दोनों प्रस्थापनाओं को तथ्यों, आंकड़ों व वर्तमान स्थिति के आधार पर सही साबित करते हैं।

राजनीतिक-अर्थशास्त्र का साधारण सा जानकार भी यह देखकर हैरान होगा कि स्वीजी, बरान व मैगडाफ में क्या कमाल की दूरदृष्टि है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मंदी दूर हो जाती है। ब्रेटनवुड संस्थाओं (आई एम एफ, डब्ल्यू बी आदि) की स्थापना होती है। पूंजी, पूरे विश्व में तरक्की का परचम उठाए दिखती है। जीवन स्तर में बढ़ौतरी, आटो उद्योग का विकास, बेरोजगारी कम होना, जी डी पी बढ़ना, सब होता है। हर ओर आशा भरा माहौल दिखता है। इसे ही 'सुनहरे युग' (1950-70) का नाम दिया जाता है। इसका पूरा श्रेय कीन्सवाद के सरकारी नियंत्रण व 'सोशल वैल्फेयर स्टेट' के सिद्धांत को दिया गया। इस चकाचौंध में भी

स्वीजी, बरान, मैगडाफ अपनी प्रस्थापनाओं पर न केवल अडिग रहे, बल्कि उन्हें आगे विकसित किया। उन्होंने कहा कि मंदी दूर करने का श्रेय कीन्सवाद को देना गलत है। दरअसल मंदी द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हुए विध्वंस व उसके बाद हुए पुनर्निर्माण से दूर हुई है यानी कि महामंदी युद्ध की अर्थव्यवस्था में समाहित हो गई हैं। ब्रेटनवुड संस्थाओं द्वारा झोंकी जा रही वित्तीय पूंजी फिर से सट्टेबाजी कर 'बुलबुलों' का निर्माण करेगी जो कारपोरेटों/कार्टेलों के बेहिसाब मुनाफे बढ़ाएगा। अतिसंचय उर्फ सम्पति अपहरण, भारी आर्थिक विषमता पैदा करेगा व महासंकटों/महाठहरावों की अटूट श्रृंखला का निर्माण करेगा।

'अन्तहीन संकट' पुस्तक के तीसरे, चौथे व पांचवें अध्याय इसी दूरदृष्टि की व्याख्या करते हुए, 1974-75 की तीव्र मंदी, 1997 का पूर्वी एशिया संकट, सन 2000 का टैक्नोलोजी बुलबुला, यूरोप की मंदी व 2007 के आवासीय बुलबुले के संकटों को प्रमाण के तौर पर पेश करते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है कि ये सब संयोग नहीं, बल्कि नियम है। जैसे ही बुलबुला फटता है खरबों रुपए की कागजी परिसर प्रतियां एक झटके में कूड़ेदान में डालनी पड़ती हैं और इस सारे नुक्सान की भरपायी आमजन को करनी पड़ती है। 1975 से 2007 तक यही बार-बार हो रहा है। इसे कहते हैं 'मुनाफे का निजीकरण व घाटे का सामाजीकरण'।

मलयालम लोक कथा

दोस्त की मदद

किसी तालाब में एक कछुआ रहता था। तालाब के पास मांद में रहने वाली एक लोमड़ी से उसकी दोस्ती हो गई। एक दिन वे तालाब के किनारे गपशप कर रहे थे कि एक तेंदुआ वहां आया। लोमड़ी जान बचाकर भागी। धीरे चलने वाला बेचारा कछुआ न तो भाग सका और न ही कहीं छुप सका। तेंदुआ एक छलांग में उस तक पहुंच गया। उसने कछुए को मुंह में पकड़ा और उसे खाने के लिए एक पेड़ के नीचे गया। लेकिन दांतों और नाखूनों का पूरा जोर लगाने पर भी कछुए के सख्त खपड़े के खरोंच तक नहीं आई।

अपनी मांद से यह देखकर लोमड़ी ने कछुए को बचाने की तरकीब सोची। वह मांद से बाहर आई और अदब और मासूमियत से कहने लगी, 'कछुए के खपड़े को तोड़ने का मैं आसान तरीका बताती हूं। इसे पानी में फैंक दो। थोड़ी देर में पानी से इसका खपड़ा नरम हो जाएगा। चाहो तो आजमा कर देख लो!'

मूर्ख तेंदूए ने कहा, 'इसका क्या! अभी देख लेता हूं!' यह कहकर उसने कछुए को पानी में फैंक दिया। इससे ज्यादा कछुए को क्या चाहिए था!

2007 के बाद से अमरीका-यूरोप महामंदी से लगातार जूझ रहे हैं ग्रीस नीलाम हो रहा है, स्पेन, इटली कतार में खड़े हैं। ब्रिटेन व फ्रांस प्रतीक्षारत हैं। हर जगह आमजन बदहाल हैं और अब चीन में भी ठहराव, जिसकी चर्चा इस पुस्तक के आखिरी अध्याय 'महाठहराव व चीन' में 2012 में ही कर दी गई थी। **अब वित्तीय प्रसार एक स्वस्थ वास्तविक अर्थव्यवस्था की समृद्धि पर नहीं पलता, बल्कि यह अंतहीन ठहराव पर पलता है। मंदी व महंगाई का एक साथ मौजूद रहना और क्या साबित करता है। आज के समय में, वास्तविक अर्थव्यवस्था व वित्तीय व्यवस्था के बीच का यह उलटा रिश्ता ही, विश्व में नई प्रवृतियों को समझने की कूंजी है।**

अन्तहीन संकट के लेखक फोस्टर व मैक्केसनी कहते हैं कि धीमी विकास दर के लिए अर्थशास्त्री ठहराव शब्द का प्रयोग करते हैं आम आदमी के लिए इसका मतलब है, वास्तविक मजूदरी का लगातार कम होते जाना, भारी बेरोजगारी, सरकारी सार्वजनिक सुविधाओं के बजट में लगातार कटौती, बढ़ती असमानता और जीवन स्तर में लगातार गिरावट। आज खुद पूंजीवाद के नीतिकार यह बात स्वीकार करते हैं कि ऐसा हो रहा है पर वे इसकी सही-सही व्याख्या नहीं करते कि ऐसा क्यों हो रहा है? इनमें से अधिकांश धुरंधर इसी आस्था से चिपके रहते हैं कि पूर्ण रोजगार और तीव्र विकास, पूंजीवाद की स्वाभाविक अवस्था है। इसलिए अंततः 'बाजार' अपना जादू दिखाएगा और सब ठीक-ठाक कर देगा। हमारा तर्क इसके विपरीत है कि यह एक अन्तहीन संकट है, क्योंकि यह इस नृशंसता की उपज है, जिसे हम 'एकाधिकारी वित्तीय पूंजी' का नाम देते हैं। जो बेलगाम है और जिसके आगे सारे राष्ट्राध्यक्ष घुटने टेके खड़े हैं।

आखिरी अध्याय से 'चीन की मंदी' का मामला इस भयावह व सनसनीखेज निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि आज की वैश्वीकृत दुनिया में एकाधिकारी वित्तीय पूंजी का अन्तहीन संकट, स्थान और काल (टाईम एंड स्पेस), दोनों ही मायनों में अन्तहीन हैं। जिस तरह इस व्यवस्था के भीतर, ऐतिहासिक रूप से ऐसा कोई उपाय मौजूद नहीं है। जो इसकी परिपक्वता के बढ़ते अन्तर्विरोधों को ऊपर उठने से रोक पाए, ठीक उसी तरह ऐसी कोई प्राकृतिक नियति नहीं है जो सम्पूर्ण धरती पर छाई हुई इस आपराधिक धारा से हमें मुक्त करा दे। यह हमारे सामने केवल एक ही अंतिम विकल्प छोड़ता है - सम्पूर्ण विश्व का क्रांतिकारी पुर्ननिर्माण या आपस में टकरा रहे वर्गों की तबाही' यह पूरे पृथ्वी ग्रह की तबाही भी हो सकती है।

अन्त में भाई दिगम्बर व गार्गी प्रकाशन को ढेर सारा साधुवाद, इतनी शानदार पुस्तक के हिन्दी अनुवाद व प्रकाशन के लिए।

सम्पर्क : **9253240576**

लोकगीत

पति-पत्नी संवाद

निर्मल

हरियाणा के लोकगीतों में यहां का लोकजीवन साफ झलकता है। विशेषतौर पर महिलाओं की सूझ-बूझ, मान-मनुहार, प्रेम, खुलापन, चिंताएं, हाजिर-जवाबी, निडरता व विद्रोह बहुत ही सहजता के साथ व्यक्त हुआ है। जीवन के अनेक रंग गीतों में हैं। पति-पत्नी के संवाद पूरी पारिवारिक-व्यवस्था की संरचना को उजागर करते हैं, उनके दाम्पत्य जीवन के अलग-अलग रूपों को दर्शाते हैं। गीतों के माध्यम से वे खेती-बाड़ी का हिसाब मांगती हैं, पति से सलाह मिलाती हैं, शर्माती-इठलाती प्रेम का इजहार करती हैं। कभी बहाने से तो कभी झट से जवाब देती हैं, तर्क करती हैं, चुनौती भी देती हैं। हरियाणवी महिला की खुद्दारी, साहस व जीवंतता को अभिव्यक्त करते पति-पत्नी संवाद के गीत यहां प्रस्तुत हैं।

1

मोहे न्यूं तो बता दे भरतार, खेती को पइसा किधर गयो
कछु खाद पड़यो कछु बीज पड़या, बच्चों की भर दई फीस
खेती को पइसा इधर गयो,
मोहे न्यूं तो बता दे मेरी नार, दूधो को पइसा किधर गयो
कछु खल आ गई कछु बिनौला आ गया, बाकी को ले लियो सूट
दूधो को पइसा इधर गयो
मोहे न्यूं तो बता दे भरतार, भाइयन को बैठनो क्यों छोड़यो
कछु खेत बंटे कछु क्यार बंटे, म.डे प होई तकरार
भाइयन को बैठनो न्यूं छोड़यो
मोहे न्यूं तो बता दे मेरी नार, जिठनी को बोलनो क्यों छोड़यो
कछु महल बंटे कछु कोठे बंटे, मौरी प होई तकरार
जिठनी को बोलनो न्यूं छोड़यो,
मोहे न्यूं तो बता दे मेरी नार, पीहर को जानो क्यों छोड़यो
मां मर गई बापू मर गये, मेरे घट गये आदर भाव
पीहर को जानो न्यूं छोड़यो

2

नार मनै तेरे पै कतवाणा घर घर का हाण्डणा छुटाणा
पिया हो मैं कैसे कातणा कातूं थारे घर म्है चरखा कोन्या
तड़कै दिल्ली जावैंगे चरखा मोल ल्यावैंगे
चरखा मोल ल्यावैंगे ताकू भी घलवावैंगे
नार मनै तेरे पै कतवाणा घर घर का हाण्डणा छुटाणा
पड़वा नै मैं कातूं कोन्या पड़वा खाली वार सै
दूज नै मैं कातूं कोन्या दूज भईया दूज सै
तीज नै मैं कातूं कोन्या तीजां का त्यौहार सै
चौथ नै मैं कातूं कोन्या चौथ करवा चौथ सै
पांचम नै मैं कातूं कोन्या पांचम की पंचायत सै
छठ नै मैं कातूं कोन्या छठ की म्हारे छठी सै
सातम नै मैं कातूं कोन्या सातम सीळी सातम सै
आठम नै मैं कातूं कोन्या आठम की कड़ाही सै
नौमी नै मैं कातूं कोन्या नौमी गूगा नौमी सै
दसमी नै मैं कातूं कोन्या दसमी का दसहरा सै
ग्यारस नै मैं कातूं कोन्या डोरे छोड़णी ग्यारस सै
बाहरस नै मैं कातूं कोन्या तेरी माता की ख्याई सै
तेहरस नै मैं कातूं कोन्या तेरे बाबल की ख्याई सै
चौदस नै मैं कातूं कोन्या तेरी माता का कनागत सै
पिया हो मैं मौवस नै मर ज्यांगी मेरे ठोसे तै कतवा ले
नार मनै तेरे पै कतवाणा घर-घर का हाण्डणा छुटाणा

3

पीणा ल्याइयो छोरे तूं पीणे के मिस आइयो
क्यूकर आऊं रै छोरी मेरे लग रे बिजळी तार
क्यूं ब्याही थी रै छोरे ब्याही का मारया मान
न्यूं ब्याही थी रै छोरी म्हारे घर का करिये काम
आग लगा दयूं रै छोरे तूं खड़या तमासा देख
हेली जळगी रै छोरे हेली का चकनाचूर
खाणा ल्याइयो छोरे तूं खाणे के मिस आइयो
क्यूकर आऊं रै छोरी मेरे लग रे बिजळी तार
क्यूं ब्याही थी रै छोरे ब्याही का मारया मान
न्यूं ब्याही थी रै छोरी म्हारे घर का करिये काम
आग लगा दयूं रै छोरे तूं खड़या तमासा देख
हेली जळगी रै छोरे हेली का चकनाचूर

4

लाम्बी सरड़क धौळी रै मोटर रेल चालै सै
अर दूसरे की बीर पै के जोर चालै सै
ओ ईंस के बीड़े म्है रै पेड़्डा कैर का खड़्या
अर उठ ले रै चन्दरो तड़का पहर का पड़्या
ओ आई थी बहू रै कुछ ल्याई थी कै ना
थारे घरक्यां नै अक्कल सूहर सिखाई थी कै ना
ओ छोरे छल्ले मांगैंगे रै मैं के बताऊंगा
रै खाण्ड कसार कड़ै तै ल्याऊंगा
ओ थारे घर म्है छोटी बड़ी लगाई थी कै ना
रै थारे घरक्यां नै अक्कल सूहर सिखाई थी कै ना
ओ छोरे छल्ले मांगैंगे मैं के बताऊंगा
रै खाण्ड कसार कड़ै तै ल्याऊंगा
ओ मैं मक्खन दूध ओ रांझे मोड़ मत ना
रै ल्याई दूध गलास ओ रांझे मोड़ मत ना
ओ मैं मखमल का सूट ओ घणा निचोड़ मत ना
रै ल्याई दूध गलास ओ रांझे मोड़ मत ना
ओ मेरा मुंह देखण की चीज चांदड़े फोड़ मत ना
रै ल्याऊं दूध मळाई ओ रांझे मोड़ मत ना

5

इक तो मेरा लौंग तोड़्या दूजी तोड़ियां प्रेम दियां लड़ियां
मेरा कहणा मान गौरिये नी हाय मान गौरिये
दिन चढ़दे नूं लौंग करा दूं
तेरा कहणा नहीं ओ मानणा नी हाय नहीं ओ मानणा
दिन चढ़दे नूं लौंग कराद ूं
आप ससु मंजे लेट दी नी हाय मंजे लेट दी
सानु मार दी चक्की नाळ सोना
चक्की आपां नहीं ओ पीसणी नी हाय नहीं हो पीसणी
चक्की पीसांगी सोहरे दी आ जाइयां ससु दी आ जाइयां
चक्की तेनु आप पीसणी नी हाय आप पीसणी
जब बजणी श्याम वाळ सौटी
नाळे मेरे हंजू पोंछदा ना हाय हंजू पोंछदा
नाळे पूछदा किथे किथे लगियां
मेरा कहणा मान गौरिये नी हाय मान गौरिये
दिन चढ़दे नूं लौंग करा दूं
तेरा कहणा नहीं ओ मानणा नी हाय नहीं ओ मानणा
दिन चढ़दे नूं कैद करा दूं

6

हाबो धर्रायो रे म्हारा उगंता सूरज भरतार हजारी ढोला हाबो धर्रायो रे
किनै धर्रायो हे म्हारी सदा सुहागण नार मृगानैणी किनै धर्रायो हे
औगण धर्रायो रे म्हारा छोटकी नणद बाई गा बीर हजारी ढोला औगण धर्रायो रे
म्है तो हळियो जोड़ा हे म्हारी सदा सौरंगी नार भाइयां प्यारी म्है तो हळियो जोड़ा हे
भातो कुण ल्यवैगो म्हारा लाल नणद बाई गा बीर हजारी ढोला भातो कुण ल्यावै रे
भाते थे ही ल्यायो हे म्हारी सदा सुहागण नार मृगानैणी भातो थे ही ल्यायो हे
म्है तो पीहर जावां रे म्हारा छोटकी नणद बाई गा बीर हजारी ढोला म्हे तो पीहर जास्या रे
लेवण कुण आयो हे म्हारी सदा सौरंगी नार भाइयां गी प्यारी लेवण कुण आयो हे
लेवण बाबो आयो रे म्हारा उगंता सूरज भरतार हजारी ढोला लेवण बाबा आयो रे
बाबो थारो बूढ़ो हे म्हारी सदा सुहागण नार मृगानैनी बाबो थारो बूढ़ो हे
बीरो लेवण आयो रे म्हारी लाल नणद बाई गा बीर हजारी ढोला बीरो लेवण आयो रे
बीरो थारो याणो हे म्हारी सदा सौरंगी नार भाइयां प्यारी बीरो थारो टाबर हे
लिहाजां मर ज्याऊं रे म्हारा उगंता सूरज भरतार हजारो ढोला सरमा मर ज्याऊं रे
गज गो घूंघट काढो हे म्हारी सदा सौरंगी नार भाइयां प्यारी गज गो घूंघट ताणो हे
गरमी मर ज्याऊं रे म्हारा छोटकी नणद बाइं गा बीर हजारी ढोला गरमी मर ज्याऊं रे
झीणो साळू ओढो हे म्हारी सदा सुहागण नार मृगानैणी झीणो झोलो ओढो हे
काळी पड़ ज्याऊं रे म्हारा लाल नणद बाई गा बीर काळी पड़ ज्याऊं रे
झीणी केसर मसळां हे म्हारी सदा सौरंगी नार भाइयां प्यारी केसर मसळां हे
केसर महंगी रे म्हारी छोटकी नणद बाई गा बीर केसर महंगी रे
महंगी सूंगी ल्यावां हे म्हारी सदा सुहागण नार भाइयां प्यारी महंगी सूंगी ल्यावां हे

7

कोई हाल पुराणी ओ हाळिड़ा हळ नयो
कोए ओरणा तो ओर घड़ाय कोए बरसण लागी रे हाळिड़ा बादळी
कोई कितरज बोआ लाल जींवार हाळिड़ा बरसण लागी बादळी
कोए हम बोआ रे गौरीधन बाजरो थम ल्याओ म्हारी छोड़
सास नणद का हो हाळिड़ा ओलणा
कोए क्यूकर उठाऊ छोड़ बरसण लागी हाळिड़ा बादळी
कोई करड़ो तो कस ल्यो गौरीधन लाडणो
कोई झट दे उठा ल्यो छोड़ बरसण लागी रे हाळिड़ा बादळी
कोई टीब्बा प बोइयो पिया म्हारा बाजरा
ढैहरा म लाल जींवार बरसण लागी रे हाळिड़ा बादळी
कोई क मण निपज्यो पिया म्हारो बाजरो
क मण लाल जींवार बरसण लागी रे हाळिड़ा बादळी
कोई सौ मण निपज्यो गौरीधन बाजरो
कोई दो सौ मण लाल जींवार बरसण लागी रे हाळिड़ा बादळी
कोई थारा सिमा ल्यो बिजरखा
कोई म्हारा सिमा दयो दामण चार बरसण लागी रे हाळिड़ा बादळी

सम्पर्क : 9468335275

महावीर 'दुखी' की ग़जलें

1

जहां में खौफ़ का व्यापार क्यूं है सोचना होगा,
तशद्दुद की यहां भरमार क्यूं है सोचना होगा।
सुना था आदमी ने बेबसी पर पा लिया काबू
मगर हर आदमी लाचार क्यूं है, सोचना होगा।
तरक्की के सभी साधन हमारे पास हैं फिर भी,
हमारा रास्ता दुश्वार क्यूं है सोचना होगा।
जहां इख़्लास, यकजिहती, उखुव्वत की जरूरत हो,
तअस्सुब का वहां परचार क्यूं है, सोचना होगा।
खबर आती है, हर जानिब से जुल्मों-कत्लो-गारत की,
लहू से तर हर इक अखबार क्यूं है सोचना होगा।
फिरिश्ते दुबके बैठे हैं, पहाड़ों की गुफाओं में,
दरिन्दों का खुला दरबार क्यों है सोचना होगा।
महायुद्ध सी कयामत देख ली हमने, मगर फिर भी,
हमें जंगों-जदल से प्यार क्यूं है, सोचना होगा।
युगों पहले हुई आबाद ये दुनिया मगर यारो,
गरीब अब तक भी बेघर बार क्यूं है सोचना होगा।
मुहब्बत से, मुरब्वत से, शराफ़त से, सदाकत से,
ज़माना बरसरे-पैकार क्यूं है, सोचना होगा।
उजालों की 'दुखी' सबको जरूरत है, मगर अपना,
अंधेरों के लिए इसरार क्यूं है, सोचना होगा।

2

ज़माने में नया बदलाव लाने की ज़रूरत है,
अकीदों का सड़ा मलबा उठाने की ज़रूरत है।
उजालों के तहफ्फुज में कभी कोई न रह जाए,
अंधेरों को सिरे से अब मिटाने की ज़रूरत है।
हमें जो आज तक भटका रहे थे रहनुमा बनकर,
अब उनसे कारवां अपना बचाने की जरूरत है।
गरीबी से गुज़करना मुकद्दर तो नहीं अपना,
हमें अब मुफलिसी अपनी मिटाने की ज़रूरत है।
बुझानी है हमें गर तश्नगी धरती के कण-कण की,
तो फिर सहराओं में दरिया बहाने की ज़रूरत है।
हमारे काम आया है जो हर अच्छे बुरे पल में,
अब उसका साथ जीवनभर निभाने की ज़रूरत है।
हमारी गुमरही मजबूर करती है, भटकने पर,
मगर अंधे सफर को अब ठिकाने की ज़रूरत है।
जहां इक-दूसरे से लोग दिल से प्यार करते हों,
हमें ऐसी जमीं, ऐसे जमाने की ज़रूरत है।
बहुत रो धो लिए लेकिन, न हाथ आया हमारे कुछ,
कि अब तो हाले-दिल पर मुस्कराने की ज़रूरत है।
नहीं जीवन का मकसद धन कमाना और मर जाना,
जहां में नेकनामी भी कमाने की ज़रूरत है।
हमारी उम्र कटती है 'दुखी' अश्कों को पी-पी कर,
खबर उस बेखबर को ये सुनाने की ज़रूरत है।

3

न दीवानों से वाबस्ता, न फरज़ानों से वाबस्ता,
रहा हूं मैं हमेशा आम इन्सानों से वाबस्ता।
सुना है देवाओं का कभी था बास धरती पर,
मगर क्यूं आजकल दुनिया है शैतानों से वाबस्ता।
हमारी बस्तियां सहराओं जैसी होती जाती हैं,
हुए जाते हैं ख़्वाब अपने बियाबानों से वाबस्ता।
बदल देगी हमारा हाल कोई गैब की ताकत,
रहे हम तो हमेशा ऐसे इम्कानों से वाबस्ता।
किनारों से हमारी कश्तियों का वास्ता कैसा,
हमारी कश्तियां रहती हैं तूफानों से वाबस्ता।
वही तो जानता है दर्द सहने का मजा क्या है,
अज़ल से जिन्दगी जिसकी गमखानों से वाबस्ता।
नज़र आती है अब तो हर तरफ बस एक ही सूरत,
न जाने कौन है ये मेरे अरमानों से वाबस्ता।
सुनाऊं किस तरह रुदादे-गम अपनी जमाने को
मिरा गम तो है मेरे दिल के तहखानों से वाबस्ता।
जुनूं वाले सफ़र ही पर कुछ इस अन्दाज से निकले,
'दुखी' भी हो गया मंजिल के दीवानों से वाबस्ता।

गांव सुदकैन कलां, तह. नरवाना, जींद-94169-67861

अपने शहर में पत्रिका के सम्पर्क

महेन्द्रगढ़ - अमित मनोज 9416907290
कुरुक्षेत्र - सुभाष सैनी 09416482156
यमुनानगर - ब्रह्मदत्त शर्मा 9416955476
अंबाला शहर - जयपाल 9466610508
अम्बाला छा. - धर्मवीर 9253681039
करनाल - अरुण कैहरबा 9466220145
कैथल - प्रेमचन्द 9729883662
मलखान सिंह 9416578758
घरौंडा - राधेश्याम भारतीय 9315382236
सफीदों - बहादुर सिंह 'अदिल' 9416855973
जीन्द - सोहनदास 9466075178
शमशेर सिंह 9416190562

पंचकूला -जगदीश चन्द्र 9316120057
सिरसा - परमानंद शास्त्री 9416921622
फतेहाबाद - पवन सागर 9996040307
रोहतक - अविनाश सैनी 9416233992
मदन भारती 9466290729
सिरसा - परमानंद शास्त्री 9416921622
टोहाना - बलवान सिंह 9466480812
गुडगांव -जगदीप सिंह 9416154057
हिसार डा. महावीर शर्मा - 9253240576
वर्मा न्यूज एजेंसी
अरोड़ा न्यूज एजेंसी